समर्पण

श्रीयुत कमलाकरजी पाठक
अध्यक्ष—कर्मवीर प्रेस
जबलपुर

भाई कमलाकर जी !

प्रस्तुत पुस्तक की सभी कहानियाँ मैंने अपने कहानी क्लब की भिन्न भिन्न बैठकों में पढ़ने के लिए लिखी थीं। आप इस क्लब के एक सम्मानित सदस्य हैं, और आरम्भ से ही इन कहानियों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने के लिए मुझे प्रोत्साहित करते रहे हैं। अतएव मेरी यह पुस्तक आप ही को समर्पित है।

सुभद्राकुमारी चौहान

उपहार

सूची
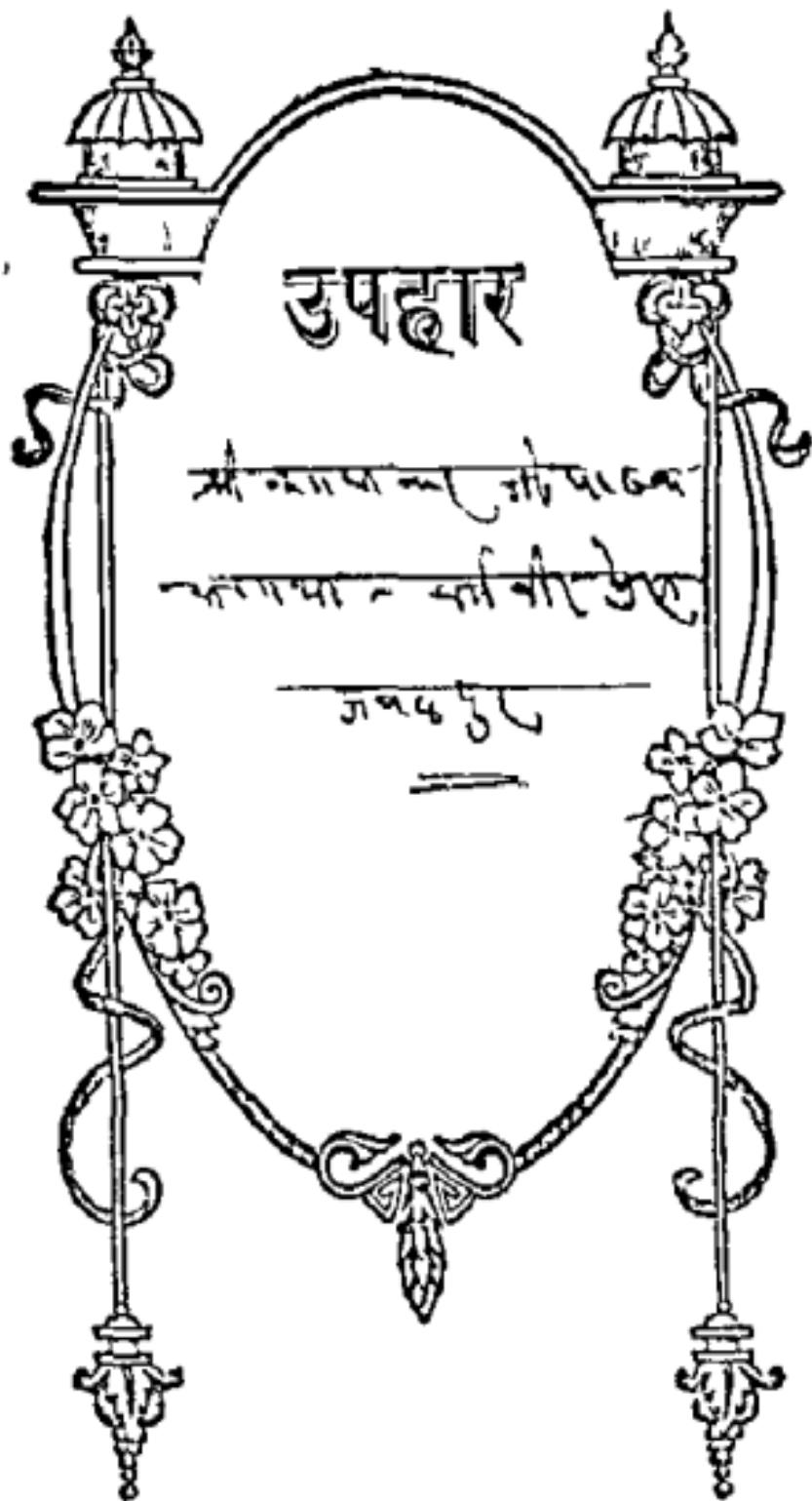
भूमिका

पं० केशवप्रसाद पाठक बी. ए.-लिखित

भूमिका

इस पुस्तक की लेखिका श्री सुभद्रा कुमारी चौहान की इच्छा है कि मैं इसकी भूमिका लिखूं। मैं चाहता तो यही था कि किसी प्रतिभा-सम्पन्न कलाविद् तथा प्रख्यात समीक्षक पर ही इस कार्य का भार सौंपा जाता; वह उसे अधिक योग्यता और अधिकार के साथ सम्पादित करता। किन्तु बात तो सच यह है कि यह, इच्छा ही नहीं, कुमारी जी का आग्रह है, उसे टालने की क्षमता मुझ में नहीं। अतएव कुछ-न-कुछ लिखना आवश्यक है।

× × ×

भूमिका के आरम्भ भाग में लेखक के विषय में कुछ कहने की प्रथा है। सुभद्रा कुमारी जी के नाम से हिन्दी का प्रत्येक साहित्य-सेवी तथा साहित्य-प्रेमी परिचित है। एक बार हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने, उनकी कविता पुस्तक 'मुकुल' को स्त्रियों द्वारा लिखित वर्ष की सर्वोत्तम पुस्तक कहकर, उन्हें सेकसरिया पारितोषिक प्रदान किया था, और दूसरी बार 'बिखरे मोती' उनकी कहानी पुस्तक, पर भी उपर्युक्त पुरस्कार देकर उन्हें सम्मानित किया था। उनकी कहानियों का अनुवाद मैंने गुजराती भाषा में भी देखा है।

× × ×

यह स्वतन्त्रता का युग है। मानव-मात्र पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहता है। मानसिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक, सभी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त करने में वह लगा हुआ है। पराधीनता उसे, किसी भी रूप में, स्वीकार नहीं।

स्वतन्त्रता की इस दौड़ में स्त्रियाँ भी पीछे नहीं रहना चाहतीं। यह नवीन चेतना कुछ तो इस स्वातन्त्र्य युग से ही उन्हें मिली है कुछ वह पुरुष समाज द्वारा स्त्री जाति के साथ किये गए अन्यायपूर्ण, क्रूर व्यवहारों की प्रतिक्रिया के रूप में भी जाग्रत हुई है। फलतः आज वे अपनी जीवन धारा को इच्छानुकूल प्रवाहित करने की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए समुत्सुक देख पड़ती हैं। वे अपने पैरों पर ही खड़ी हो जाना चाहती हैं। पाश्चात्य "फेमिनिस्ट मूवमेन्ट" (Feminist Movement) इसी नवीन चेतना का फल है। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तकों और प्रचारकों की कृतियों में हम इसी भावना को साकार पाते हैं। इब्सन (Ibsen) के ए डाल्स हाऊस (A Doll's House) तथा रोमाँ रोलाँ

(Roman Rolland) के दि सोल एन्चेन्टेड (The Soul Enchanted) में यही भावना प्रत्यक्ष हुई है।

कुमारी जी की इन कहानियों में भी हम बहुत-कुछ इसी प्रेरणा को कार्य करते पाते हैं। यह कहानियाँ भी उसी स्वर्ण युग का स्वप्न देखकर, उसी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का आह्वान सुनकर लिखी गई हैं जिसमें नारियों के अस्तित्व को भी उतना ही महत्व प्रदान किया गया है जितना पुरुषों की सत्ता को; और जहाँ वे अपने मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक उत्कर्ष का अपने ऊपर उतना ही उत्तरदायित्व अनुभव करती हैं जितना पुरुष।

इस स्वतन्त्र उत्तरदायित्व, इस स्वाधीन सत्ता तथा इस अबाधित अधिकार का परिज्ञान उनमें अन्धपरम्परागत विकृत आदर्शों के प्रति विद्रोह की ज्वाला को प्रज्वलित करता है, गार्हस्थ्य जीवन तथा समाज की समय-वेधी रूढ़ियों पर परुष प्रहार करने की उत्तेजना प्रदान करता है, और स्त्री को केवल विलासिता की सामग्री तथा सुख-संभोग का साधन समझने वाले अधिकार-प्रमत्त, स्वार्थान्ध पुरुष-समुदाय की स्वेच्छाचारिता एवं हृदयहीनता के विरुद्ध क्रान्ति की भावना को जन्म देता है।

पातिव्रत्य का रूढ़िगत, साम्प्रत हिन्दू आदर्श पूर्ण परवशता और दासत्वकल्पा मौन आज्ञाकारिता का पर्यायवाची बन गया है। पवित्र ईर्ष्या में विमला इसी विकृत आदर्श के प्रति असंतोष प्रकट करती है; उन्मादिनी में होना भी इसी परवशता, इसी पराधीनता पर चार आँसू बहाती है। विमला का यह अनुभव देखिए—

"उसने आज ही अनुभव किया कि विवाह के बाद स्त्री कितनी पराधीन हो जाती है। उसे पति की इच्छाओं के सामने अपनी इच्छाओं और मनोवृत्तियों का किस प्रकार दमन करना पड़ता है।"

इस अनुभव के प्रति उसका असंतोष और उस अशान्ति-जनित उसके इन कातर उद्गारों को पढ़िए—

"हे ईश्वर! तू साक्षी है। यदि मैं अपने पथ से तनिक भी विचलित होऊँ तो मुझे कड़ी से कड़ी सज़ा देना। पतिव्रत धर्म, स्त्री का धर्म तो यही है न कि पति की उचित-अनुचित आज्ञाओं का पालन किया जाय। वही मैं कर रही हूँ विधाता! पर इतने पर भी यदि मेरी दुर्बल आत्मा अपने किसी आत्मीय के लिए पुकार उठे तो मुझे अपराधिनी न प्रमाणित करना।"

[पवित्र ईर्ष्या]

ऐसी परिस्थितियों में पड़ी पत्नी के जीवन का चित्र देखिए:—

"मायके जाने की भी अब मुझे विशेष उत्सुकता न थी। अब तो किसी प्रकार अपने दिन काटने थे। न तो जीवन में ही कुछ आकर्षण था और न किसी के प्रति किसी तरह का अनुराग शेष रह गया था; पर काठ की पुतली की तरह सास और पति की आज्ञाओं का पालन करती हुई नियम से खाती-पीती थी, स्नान और श्रृंगार करती थी और भी जो कुछ उनकी आज्ञा होती उसका पालन करती।"

× × ×

"पति का प्रेम मैं पा सकी थी या नहीं, यह मैं नहीं जानती; पर मैं उनसे डरती बहुत थी। भय का भूत रात-दिन मेरे सिर पर सवार रहता था। उनकी साधारण-सी भाव-भंगी भी मुझे कँपा देने के लिए पर्याप्त थी। वे मुझसे कभी नाराज़ न हुए थे; किन्तु फिर भी उनके समीप मैं सदा यही अनुभव करती कि जैसे मैं बन्दी हूँ और यहाँ ज़बरदस्ती पकड़कर लायी गयी हूँ।"

[उन्मादिनी]

पवित्र ईर्ष्या में विमला को, अपने राखी-बन्द भाई अखिलेश के प्रति, भ्रातृ-भाव प्रदर्शित करने की स्वतन्त्रता नहीं मिलती; उन्मादिनी में हीना को, अपने बाल-सखा कुन्दन के साथ, सख्य-भाव निबाहने की स्वीकृति नहीं दी जाती। परन्तु केवल पत्नियों की कातर विवशता, हीनावस्था और निरीहता तथा उन पर पतिजनों के अन्यायपूर्ण क्रूर शासन की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित नहीं किया गया; प्रत्युत समस्त स्त्री-जाति की सरलता, सुशीलता एवं परवशता का अनुचित लाभ उठाने वाले पुरुष की कठोरता और उसके घृणित आचरण की ओर भी इनमें संकेत किया गया है। अभियुक्त, नारी-हृदय, सोने की कंठी और अंगूठी की खोज में हमें यही देखने को मिलता है। सुशीला के मुँह से, अपने पति के लिए, निकला हुआ वाक्य, "तुम्हीं क्या पुरुष-मात्र ही कठोर होते हैं," वास्तव में, इन कहानियों का भी निष्कर्ष कहा जा सकता है।

इस प्रकार क्रूर पुरुष द्वारा पद-दलित नारी-हृदय का दिग्दर्शन कराना ही लेखिका का उद्देश्य है। साथ ही स्त्रियों का, अपने आचार-विचार, रहन-सहन तथा कार्य-व्यवहार में,

स्वतन्त्रता की माँग की आवाज को भी वह हमारे कानों तक पहुँचा देना चाहती है। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ इसी विचार विशेष को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। परिस्थितियों का चुनाव, घटनाओं का क्रम, चरित्रों का चित्रण और वस्तु का विन्यास प्रधानत इसी लक्ष्य को पूरा करने के लिये हुआ है; और कहानियों की कथावस्तु का निर्वाह ऐसे ढग पर हुआ है जो लेखिका द्वारा उपस्थित की गई समस्या के हर पहलू पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। प्रत्येक कहानी के भिन्न भिन्न चरित्रों, परिस्थितियों, घटनाओं और वार्तालाप को इस प्रकार निभाया गया है, इस ढग से उपस्थित किया गया है कि पग पग पर वे अपने प्रधान उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। आदि से अन्त तक अपने प्रभाव में एकरस रहकर कहानी आरम्भ से ही हमें अपने अन्तिम परिणाम से प्रभावित करने लगती है। उसका प्राय प्रत्येक प्रदर्शन और प्रकाशन एक ही निदर्शन को अपना लक्ष्य बनाए हुए है। अंग्रेजी में इसे Unity of Impres sion कहते हैं। यह संकलन गुण लेखक की अभिप्राय-स्पष्टता तथा कला कुशलता पर ही निर्भर रहता है।

इतना सब होने पर भी यह सम्भव है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अपने अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए लेखिका ने जिन चरित्रों, स्थितियों, घटनाओं या कथोप कथन का उपयोग किया है उनके सम्बंध में पाठकों का कहीं-कहीं पर लेखिका से कुछ मतभेद हो जाय। ऐसा हो जाना अस्वाभाविक भी नहीं। यह भी हो सकता है कि कहानी के किसी स्थल से असन्तुष्ट होकर कोई निर्मम समीक्षक कह उठे कि अमुक वस्तु के अंकन में लेखिका को अधिक-

चातुरी, अधिक सूक्ष्मता, अधिक स्वाभाविकता, अधिक स्पष्टता या अधिक सौन्दर्य से काम लेना चाहिए था। परन्तु मेरी समझ में, इन कहानियों के सन्देश के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। इनका जो लक्ष्य है, मानवता के जिस पहलू का इनमें चित्रण है, आत्मा की जिस पुकार को हम इनमें सुनते हैं वह हमारी थोती आलोचना के कहीं परे है। उसकी सत्यता, उसकी सार्थकता, उसके व्यापकत्व और उसकी गुरुता पर हम सन्देह नहीं कर सकते। उसे हमारे मनन, चिन्तन और आचरण की वस्तु होनी ही चाहिए। हमें केवल शान्त-गंभीर चित्त से, पक्षपातरहित होकर उदार हृदय की कोमल सहानुभूति के साथ इन कहानियों को पढ़ना होगा। हम देखेंगे कि तब लेखिका के दृष्टिकोण को हम ठीक-ठीक समझ सकते हैं; उसकी प्रशंसा भी कर सकते हैं; उसके द्वारा उपस्थित किए गए सत्य के स्वरूप को पहचान सकते हैं; और इस प्रकार लेखिका की कृति का उचित मूल्य भी आँक सकते हैं।

प्रस्तुत संग्रह में कुमारी जी की नौ कहानियाँ संगृहीत हैं। १ उन्मादिनी २ असमंजस ३ अभियुक्ता ४ सोने की कंठी ५ नारी हृदय ६ पवित्र ईर्षा ७ अंगूठी की खोज ८ चढ़ा दिमाग़ और ९ वेश्या की लड़की।

उन्मादिनी में हीना अपने बाल सखा कुन्दन के प्रति स्नेह-भाव रखती है, किन्तु उसके पिता जी उसका विवाह एक इंजीनियर साहब से कर डालते हैं। इससे उसके सुकुमार, भावुक हृदय को एक आघात लगता है। पतिदेव के घर पहुँच कर वह इंजीनियर साहब के आचार-विचार, रहन सहन, वेश-भूषा, बोल-चाल, कार्य-व्यवहार, सभी से

और भी असंतुष्ट हो जाती है। उनका स्वभाव भी उसे तनिक नहीं सुहाता। वास्तव में, यहाँ का वातावरण ही उसे अपनी प्रकृति के प्रतिकूल प्रतीत होता है। अपने बाल सखा कुन्दन की स्मृति भी उसे पग-पग पर विचलित करती रहती है। हीना के लिए व्याकुल कुन्दन भी एक दिन उसकी ससुराल में जा पहुँचता है; और गुप्त रूप में हीना के बगीचे में ही माली का काम करने लगता है। परन्तु हीना को उससे मिलने जुलने की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती। यहाँ माली का काम करते-करते सुकुमार कुन्दन का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन बिगड़ता जाता है। हीना यह जान कर भी उसकी सहायता नहीं कर सकती। उसके पतिदेव उसे कुन्दन के पास जाने की और उससे बातचीत करने की स्वतन्त्रता नहीं देते। वह विवश है। अन्त में एक दिन कुन्दन के प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। कुन्दन का यह आत्म समर्पण हीना के जीवन को चिर विषादमय बना जाता है।

इस प्रकार इस कहानी में हमारे यहाँ के विवाह की अन्ध प्रथा का कुपरिणाम दर्शित है। इसकी तह में जो तर्क गर्भित है वह प्रेम का यह सिद्धान्त कि प्रेम स्वप्रसूत, स्वभू है। पिता की इच्छा और आज्ञा होने पर भी हीना इंजीनियर साहब को प्रेम नहीं कर सकती। साथ ही इसमें विवाहिता स्त्रियों की असमर्थता और विवशता का भी करुण चित्रण है। हीना के मुँह से निकले हुए दो-चार वाक्य मुझे सुरुचि के प्रतिकूल लगे।

असमंजस—कहानी की नायिका कुसुम के ही शब्दों में "क्या प्रेम का अन्त कहानियों की तरह विवाह में ही होना आवश्यक है?" असमंजस का आधार है। इस कहानी को पढ़ने के बाद पाठक के मन में दो प्रश्न उठते हैं—

१ क्या कुसुम से विवाह का प्रस्ताव करना वसन्त के पक्ष में अनुचित था ?

२ क्या कुसुम का आदर्श वसन्त के आदर्श से अधिक उच्च और उज्ज्वल था ? या वह कुसुम का केवल मतिभ्रम था ? अथवा वह निरी भावना का ही शिकार बन रही थी ?

लेखिका एक समस्या उपस्थित कर देती है; पर उसको हल नहीं करती। यह बुरा नहीं। ऐसी कहानियाँ विचार-वर्धक होती हैं। वे हमारे मानसिक व्यापार को प्रोत्साहन तथा उत्तेजना प्रदान करती हैं। गाल्सवर्दी (Galsworthy) बहुधा समस्याएं उपस्थित किया करता है जिनके सुलझाने का भार वह अपने पाठकों पर छोड़ देता है। अंग्रेजी की प्रसिद्ध कहानी स्त्री या शेर (Lady or the Tiger) में लेखक पाठक से प्रश्न करके ही कहानी को समाप्त करता है। इस कहानी को हम वसन्त का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कह सकते हैं। यथार्थता का आकलन इसमें कुछ शिथिल-सा हो गया है। वातावरण कुछ धुंधला और अस्पष्ट है।

अभियुक्ता में समाज में स्त्रियों की असहायावस्था तथा पुरुषों के क्रूर व्यवहार और अनाचार का रोमांच-कारी चित्र खींचा गया है। एक निर्दोष बालिका संकट में पड़ जाती है। कामान्ध पुरुष जब उसे अपनी काम-वासना का शिकार बनाने में असफल होता है तब वह उसे अपनी शक्ति, सम्पदा और बुद्धि के सहारे धूलि में मिला देना चाहता है। निष्पाप होते हुए भी बालिका निर्धन है, अनाथ है। उसका कोई सहायक नहीं। यह तो भाग्य की बात है कि न्यायाधीश अभियुक्ता दुखी का पिता निकल आता है;

अन्यथा, चोरी के अभियोग में उसे जेल के सींकचों में सड़ने के लिए भेज कर, धर्मान्ध बैरिस्टर गुप्ता उसकी सच्चरित्रता का पुरस्कार उसे दिला ही देते। कहानी में हमारे आधुनिक न्यायालयों की अपूर्णता तथा उनकी सत्यासत्य कसौटी की भ्रमात्मकता की ओर भी कलात्मक संकेत कर दिया गया है। इस कहानी में विस्मय-तत्व का समावेश सुन्दर ढंग पर हुआ है। रवीन्द्रनाथ की विचारक कहानी बहुत-कुछ इसी ढंग की है।

सोने की बाली—यह मानवीय दुर्बलता की एक दुःखान्त घटना है। मानव-जीवन और विशेषकर दरिद्र मनुष्यों की करुण दीनता का इसमें सुन्दर चित्र खचित है। न्यूनाधिक मात्रा में, हम सबके हृदय में ऐश्वर्य की अभिलाषा, वैभव की आकांक्षा खेलती रहती है, फिर ग़रीब लोगों की सुख-लालसा, वैभव-पिपासा किस से छिपी है? सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को, विशाल प्रासादों में विलासिता और सुख के बीच में रहते देखकर, आमोद-प्रमोद से चिंता-मुक्त होकर क्रीडा करते देखकर उन निर्धनों की सोयी हुई इच्छाएँ कितनी बार नहीं जाग उठतीं? दरिद्रजनों के हृदय में न जाने ऐसी कितनी ही अतृप्त, मीठी मनुहारें सतत क्रन्दन किया करती हैं, किन्तु उनको सफल बनाने का प्रयत्न करना मानों उन दरिद्रजनों का अपने लिए निराशा और दुःख को आमन्त्रित करना है। बिंदो की गहने-कपड़े की प्रबल अभिलाषा भी उन्हीं अतृप्त आकांक्षाओं में से एक है। स्त्री होने के कारण आभूषणों की ओर अधिक आकर्षित होना भी उसके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। वह बेचारी भी ऐसे ही भाग्य के मारे ग़रीब घर की लड़की है, जिसके मन में सुन्दर वस्तुओं के पाने की स्वाभाविक इच्छा सदा छटपटाती रहती है। सोने-सी सुन्दर

लड़की! बेचारी की यह अभिलाषा न मायके में पूरी होती है और न ससुराल में ही। और अन्त में बहुत-कुछ वही उसके नैतिक पतन का, उसके सर्वनाश का कारण बन जाती है। परिस्थितियाँ उसे विवश कर देती है; दुर्दान्त मोह उस पर अपने अमोघ अस्त्रों का प्रयोग करता है। ग़रीब बिन्दो मानवीय दुर्बलतायुक्त एक बालिका ही तो ठहरी! लोभ का संवरण करना धीमे धीमे उसकी शक्ति के बाहर हो जाता है; और अन्त में एक दिन किसी विचार-शून्य क्षण में वह अपने आपको, कुछ तो कंठी की लालच का और कुछ एक नर पशु की हिंसक वृत्ति का, शिकार बना बैठती है। एक छोटी सी इच्छा को तृप्त करने का प्रकृति उससे कितना भयंकर मूल्य लेती है, सोचकर जी दहल जाता है। किन्तु बिन्दो के जीवन की करुण कथा यहीं नहीं समाप्त होती। इस पतन के साथ तो सिसकता सन्तोष क्षण भर को शांत हो सो सकता था, इस अंत के संग तो इच्छा की पूर्ति दफनायी जा सकती है। इतना सुख भी किसे सह्य हो सकता है? एक आघात और; और बिंदा का उन्माद अपनी चरमभूमि पर होगा। वही कलाविद् की कहानी का वांछित अंत हो सकेगा। वही अंतिम क्रन्दन बहुत गहरा होगा; वहीं प्रभाव चिरस्थायी होगा। सत्य के इस दारुण स्वरूप को पाठक बिंदो के साथ देखें। वह कंठी, जिसे बिंदा ने अपने सतीत्व शृंगार को उजाडकर खरीदा है, सोने की नहीं, मुलम्मे की है। यह निर्मम सत्य, यह निष्ठुर, क्रूर सत्य, बिंदा के ही नहीं, पाठक के सिर पर भी वज्र गिरा देने के लिए काफ़ी है। फिर यह वज्र अकस्मात् आ गिरता है। पाठक तो क्या, स्वयं बिंदो अपनी कंठी की कहानी के इस अंत के लिये तैयार नहीं हो पाती।

इस कहानी का अंत अत्यन्त कलापूर्ण, अकल्पित अतएव प्रभावोत्पादक हुआ है। यह समूची कहानी को ताज़ी शक्ति, नयी तीव्रता और नवीन गति से भर देता है। पाठक ने इस अंत की सम्भवतः कल्पना भी नहीं की थी। मोपासाँ (Guy de Maupassant) की चन्द्रहार (necklace) कहानी में हमें ऐसा ही अकल्पित, चमत्कारपूर्ण और कलात्मक अंत देखने को मिलता है। परन्तु वहाँ विस्मय हमारे हर्ष का कारण बनता है; यहाँ विस्मय की मात्रा हमारी करुणा-कादम्बिनी को आँसू बनाकर बरसा जाती है।

कहानी में वर्णित घटनाएँ और तज्जनित परिस्थितियाँ अत्यन्त स्वाभाविक हैं। ग़रीब घरों की बहू-बेटियों पर कुदृष्टि रखनेवाले रायसाहब के समान नर पिशाचों की हिन्दू-समाज में कोई कमी नहीं। ऐसे ज़मींदार और रईसों की हमारे यहां बहुलता है। भोली-भाली बिन्दो का उनके चंगुल में फस जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। कहानी में कोई घटना निरर्थक नहीं कही जा सकती। यह कहानी के प्रधान उद्देश्य के किसी-न-किसी अंग की पूर्ति करती है। घटनाओं का क्रम और कथानक का विकास जैसा चाहिये वैसा ही हुआ है। पहले बिन्दो की ऐश्वर्य-लालसा की स्वाभाविकता का दिग्दर्शन कराकर पाठक के हृदय की सहानुभूति प्राप्त कर ली जाती है। उसकी इच्छा कितनी उत्कट थी, यह दिखाने के लिए उसके नैहर और ससुराल दोनों कुटुम्बों की परिस्थितियों का वर्णन किया जाता है। फिर उसका पतन और अन्त में, सत्य का यह भीषण उद्घाटन इस करुण कहानी को समाप्त करता है। कहानी के अन्त में जो नाटकीय विस्मय है उसकी तीव्रता बड़ी मार्मिक है। यह कहानी बहुत सुन्दर और प्रभावशालिनी हुई है।

नारी हृदय में प्रमीला घर-बाहर की ठुकराई हुई एक अभागिनी अबला है जिसे एक पुरुष प्रेमाभिनय दिखला-कर अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। काम वासना की तृप्ति हो चुकने पर वह उस अनाथ विधवा को ठुकरा देता है। अभागिनी प्रमीला की परिस्थिति और अवस्था का वर्णन उसी के शब्दों में सुनिए—

"कल से आप मुझ से बात हो न करना चाहें तो मैं आपका क्या कर सकती हूँ ? मुझे क्या अधिकार है, सिवा इसके कि कलेजे पर पत्थर रख कर सब चुपचाप सहलूं। मैं खुल कर रो भी तो नहीं सकती, मुझे इतना भी तो अधिकार नहीं।"

अन्यत्र एक पत्र में वह कहती है—

"यदि किसी से कुछ कहने भी जाऊँ तो सिवा अपमान और तिरस्कार के मुझे क्या मिलेगा ? आपको तो कोई कुछ भी न कहेगा; आप फिर भी समाज में सिर ऊँचा करके बैठ सकेंगे।"

इस प्रकार, इस कहानी में भी पुरुषों का स्त्रियों के साथ अमानुषिक आचार तथा समाज का पुरुषों के लिए पक्षपात प्रदर्शित है। इस कहानी में कहीं-कहीं पर बड़े कोमल और करुण भाव मिलते हैं। एक स्थान पर प्रमीला कहती है—

"परमात्मा ने स्त्री-जाति के हृदय में इतना विश्वास, इतनी कोमलता और इतना प्रेम शायद इसीलिए भर दिया है कि पग-पग पर वह ठुकराई जावे।"

पवित्र ईर्षा—पत्नी को सदा अपनी इच्छा के अनुकूल ही चलाने की प्रवृत्ति पति में दृष्टिगोचर होती है। वह अपनी

इच्छा या आज्ञा का कोई कारण उपस्थित करने के लिए तैयार नहीं रहता। उसके औचित्य के सम्बन्ध में यदि कोई प्रश्न करता है—विशेषत यदि वह प्रश्न उसकी पत्नी करती है—तो वह उससे खीझ उठता है। इस कहानी में पति की इसी प्रवृत्ति का निदर्शन हुआ है। ईर्षा के साथ मैत्री को उपस्थित कर लेखिका ने हमारे सामने एक अनोखी बात रखी है। ईर्षा का यह असाधारण रूप हमारे ध्यान को आकर्षित कर लेता है। आरम्भ में बालिका विमला (बिन्नो) और बालक अखिल का रानी-सम्बन्धी वार्तालाप बड़ा मनोरंजक और हृदयहारी है। बाल-स्वभाव के चित्रण में कुमारी जी को अच्छी सफलता मिली है। यह कहानी भी सुन्दर हुई है। हाँ, विमला और विनोद के विवाह की भूमिका में जो चार पृष्ठ (७६-८२) भर दिये गए हैं व अनावश्यक और अप्रासंगिक-से दीखते हैं। कहानी का अन्तिम वाक्य भी मुझे सुरुचि के प्रतिकूल जँचा।

अँगूठी की खोज—अनमेल विवाह का फल इस कहानी का जन्म-स्थान कहा जा सकता है। हिन्दू माता-पिता अपने पुत्र को तो शिक्षा-दीक्षा दिलाना आवश्यक समझते हैं परन्तु पुत्रियों की शिक्षा और उन्नति के लिए व विशेष उत्सुक नहीं रहते। बालिकाओं को तो गृहस्थी के काम में निपुण बनाने तक ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं। किन्तु उनकी ही इच्छा के अनुसार उनके बालक, आधुनिक शिक्षा और सभ्यता से प्रभावित होकर अपनी पत्नी, अपनी अर्द्धांगिनी स क्या-क्या आशा करते हैं, इसे वे नहीं देखना चाहते। माता-पिता और पुत्र के दृष्टिकोण की यह भिन्नता पुत्र-पुत्रियों के पक्ष में बहुधा बड़ी हानिकर सिद्ध होती है।

आज हमारे समाज में कितने ही शिक्षित, सभ्य युवक पत्नी से असंतुष्ट रहते हैं। कभी-कभी पत्नी के प्रति उनका यह असंतोष उनके जीवन को भी नीरस और आकर्षणशून्य बना देता है। प्रस्तुत कहानी में योगेश भी एक ऐसा ही शिक्षित, विद्यानुरागी, भावुक युवक है जो अपने माता-पिता द्वारा एक अपढ़, कुरूप, मूर्ख बालिका के साथ विवाह के पवित्र-सूत्र में बांध दिया जाता है। पहले तो कुछ काल तक वह किसी प्रकार यशोदा के साथ जीवन को सुखमय बनाने की निष्फल चेष्टा करता है। फिर उसे असंभव समझ कर हताश-सा हो जाता है। वह पत्नी से असंतुष्ट, घर से विरक्त और जीवन में उत्साह-हीन रहने लगता है। उसकी दिन-चर्या ही बदल जाती है। किन्तु इसी समय एक घटना घटती है और उसके साथ ही एक शिक्षित, सभ्य तथा उन्नत विचारों की विदुषी उसके जीवन में प्रवेश करती है। योगेश का उसके साहचर्य में अपने मन का विश्राम खोजना चाहे उचित न कहा जा सके, पर स्वाभाविक अवश्य है। व्रजांगना भोली और सरल है, साक्षर, सभ्य और सुन्दर है।

"A Creature not too bright or good
For human nature's daily food,'*

उसकी स्वाभाविक उदारता, उसकी सहज सहानुभुति योगेश को कुछ-ही काल में अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। परिचय मित्रता में परिणत हो जाता है और अनुरक्ति आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। व्रजांगना के सम्बन्ध में योगेश ने कितनी ही अनर्गल बातें सुन रखी हैं। वह उनसे कुछ अंश में प्रभावित भी हो चुका है। किन्तु व्रजांगना के

---

* Wordsworth "She was a Phantom of delight"

संनिकट पहुँचकर वह अपनी भूल देख लेता है। निर्मूल धारणा का निर्माता अपने आपको अपराधी पाता है। उसकी पूर्व धारणा, जन-श्रुति और उसी के अनुभव का यह विरोध योगेश की आंखों में व्रजांगना के मूल्य को सहज ही द्विगुणित कर देता है। व्रजांगना की अचिंतित पवित्रता एवं अकल्पित सच्चरित्रता योगेश को और भी अधिक सुदृढ़ आकर्षण-सूत्र में बाँध लेती हैं। योगेश, अपनी जिस मन स्थित, कल्पित, आदर्श जीवन-सहचरी से तुलना कर, अपनी वास्तविक पत्नी से असंतुष्ट रहता है, व्रजांगना में उसी की पूर्ण प्रतिमूर्ति पाता है, यद्यपि स्वयँ योगेश को इस का ज्ञान नहीं होने पाता। उसकी अतृप्त आकांक्षाएँ अपनी पूर्ति के लिए बहुधा तड़प उठती हैं। यह पुरुष प्रकृति की प्रेरणा है। परन्तु व्रजांगना विवाहिता स्त्री है, इसलिए योगेश को उसके प्रति केवल श्रद्धा और भक्ति रखने का ही अधिकार है। चिर काल तक योगेश के मस्तिष्क में एक संघर्ष, एक भीषण द्वन्द्व छिड़ा रहता है। परन्तु अन्त में योगेश की दुर्बलता ही विजयी होती है। योगेश पर पूर्णतया अनुरक्त और सदय, किन्तु सतीत्व का मूल्य समझनेवाली व्रजांगना योगेश से एक शब्द भी नहीं कहती; साथ ही एक क्षण भी वह अपने कलुषित जीवन को धारण नहीं कर सकती। वह आत्म-हत्या कर लेती है। और अन्त में, हम योगेश के ही मुंह से, पश्चात्ताप के पवित्र आंसुओं से धुले हृदय की हृदय-वेधी कथा सुनते हैं। यहाँ हम सिनेटर यीट्स (W. B. Yeats) का एक वाक्य उद्धृत कर देना चाहते हैं।

"The food of the spirtual-minded is sweet, an Indian scripture says, but passionate minds love bitter food."

पतन की चरम सीमा पर पहुँचे हुए मनुज का यह उत्थानोन्मुख चित्र हमारी क्षमता की ओर संकेत करता है। अच्छा होता, यदि इस कहानी का अन्त कुछ ही पहले हो जाता।

चढ़ा दिमाग में वर्तमान राजनीतिक तथा साहित्यिक हीनावस्था का मधुर संयोग देखने को मिलता है। यह पूरी कहानी स्थिति-विडम्बना का अच्छा उदाहरण है।

वेश्या की लड़की में एक सामाजिक समस्या उपस्थित की गई है। समाज से पृथक् दो व्यक्ति स्वतः पर्याप्त नहीं हो सकते। उसकी उपेक्षा कर वे काल-यापन भी नहीं कर सकते। टाल्सटाय (Tolstoi) के अन्ना (Anna Karenina) में अन्ना और रंस्की को देखिए। समाज के विश्वासों, धारणाओं और निर्णयों का उसके प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। प्रमोद, विरोधी समाज के वक्र भाव की परवा न कर, एक वेश्या की लड़की से विवाह तो कर लेता है, परन्तु लोकासंमत एवं जन-व्यवहार-विरुद्ध आचरण करने के परिणाम-पाश से वह बल-पूर्वक मुक्त नहीं हो सकता। अनालोचित, निराधार जन प्रवाद के प्रबल वेग में, अपने आपको सम्हाल न सकने के कारण, वह बह जाता है। वेश्या की लड़की कुल-वधू नहीं, कुल-कलंक ही बन सकती है—सुन-सुनकर शांति की सुखद, स्निग्ध छत्र-छाया में पनपता, प्रमोद का स्तिमित चित्त क्रान्ति के उत्कोप और कोलाहल से विकल-विह्वल हो जाता है। एक किन्तु कुल में जन्म लेने का प्रायश्चित्त अनिवार्य है। सती-साध्वी और पति-परायणा छाया को आत्म-हत्या करनी पड़ती है।

निस्तब्ध एकान्त में, प्रिय कर्ण-कुहरों में अपनी अस्थिर आत्मा का अज्ञातपूर्व, मृदुल हलचल को धीमे-

धीमे उडेल देने की आकाक्षा कभी न-कभी प्रत्येक हृदय में खौल उठती है। विशुद्ध अनुराग की इस अदम्य प्रेरणा से, आत्मोत्सर्ग की इस प्रबल भावना से एक-न एक दिन प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, चाहे वह पुरुष हो चाहे स्त्री, और स्त्री में चाहे वह कुलीन हो चाहे अकुलीन, अधिष्ठित होता है। छाया का प्रमोद में अनुरक्त होना इसी का स्वाभाविक परिणाम है। परन्तु क्योंकि उसकी यह प्राकृत अभिव्यक्ति भी उसके वेश्या-चरित्र सुलभ अनुराग अभिनय में सम्मिलित समझी जाती है, इसलिए यह प्रकृति सिद्ध प्रेरणा भी उसके लिए दु खदायी ही सिद्ध होती है। छाया की आत्म हत्या का बहुत-कुछ यही कारण है, और यही कारण है वेश्या की लडकी के मर्मान्तिक कहानी होने का। बचपन से ही कुलीन बालिकाओं के संसर्ग में आने जाने के कारण, उनके सरल, *सात्विक जीवन* की *निर्मलता* को परख लेने के बाद, अपनी माता की घृणित दिन-चर्य्या से असन्तुष्ट होना भी छाया के लिये अस्वाभाविक नहीं। जघन्य जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न होती ही है। अतएव एक कुल-वधू *का जीवन बिताने के लिए छाया का उत्कण्ठित* होना प्रधानत माता के कुत्सित जीवन की प्रतिक्रिया का ही परिणाम है।

इस कहानी में प्रमोद के माता पिता का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और सुन्दर हुआ है। छाया का चरित्र विक्रान्ति के सिद्धान्तों पर निर्मित दीखता है। इस दृष्टि से वह प्रस्तुत कहानियों के सभी पात्रों से अधिक आकर्षक ठहरता है। इसके कथानक का निर्वाह भी अच्छे ढंग पर हुआ है।

कहानियों की कथावस्तु के अन्तर्गत कुछ घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ मुझे अत्यन्त मार्मिक और कुतूहल वर्धक प्रतीत हुईं। जैसे, 'मादिना' का वह स्थल जहाँ हीना मरणासन्न कुन्दन के मस्तक पर हाथ रखे बैठी है। उसके पतिदेव सहसा उस कोठरी में प्रवेश कर आग्नेय नेत्रों से उसकी ओर देखते हैं और हीना कुन्दन को छोड़कर वहाँ से तुरन्त चल देती है। यह नाट्य-स्थिति बड़ी प्रभावोत्पादक है। 'शून्य की खोज' में योगेश का अपनी चिर परिचित बेञ्च पर जा लेटना तथा आत्म चिन्तन में रत होकर अपने अतीत के एक-एक पृष्ठ को पलटना—'वही चैती पूर्णिमा थी ' इत्यादि—तीव्रतम स्थिति को उपस्थित करता है। 'बड़ा दिमाग' में तो स्थिति विडम्बना की ही नींव दी गई है। 'अभियुक्त' भी विषम स्थिति से खाली नहीं है। न्यायालय का दृश्य मार्के का है। दर्शक का चित्त कभी भय और आशंका से सिहर उठता है, कभी उसके मन में आशा और विश्वास का सचार होने लगता है। इस प्रकार न्यायाधीश जब तक अपना निर्णय नहीं सुना देता, सशय और द्विविधा पाठक के हृदय को विलोडित करते रहते हैं। कानून अन्याय के पक्ष में दीखता है। यह सदा पाठक के भय का कारण बना रहता है। 'पवित्र ईर्ष्या' में अतो का विनाद को ठीक उस समय राखी बाधने के लिए आना, जिस समय वह विमला को अखिल के घर ठीक उसी कार्य के लिए नहीं जाने देना चाहते, स्थिति विडम्बना का अच्छा उदाहरण है। उसी प्रकार बालिका विमला का माँ की पीठ पर झूलकर राखी बाँधने का प्रस्ताव करना भी करुण स्थिति को उत्पन्न करता है। कगन के सम्बन्ध में, 'वेश्या की लड़की' में प्रमोद के माता पिता की बात चीत भी स्थिति विनोद को उपस्थित करती है।

अब लेखिका के पात्र तथा चरित्र-चित्रण को लीजिए। हमारे यहाँ आदर्शवाद की तूती सदा से बोलती आयी है। आज भी उसके हिमायतियों की संख्या भारत में उसी तरह बढ रही है जिस तरह हिन्दी में कवियों की। भारत धर्म-प्रधान देश सदा से रहा है। हमारा वर्तमान भी, जिसे हम भारत का राजनीतिक युग कहते हैं, धर्म के प्राबल्य की ही घोषणा करता है। आज भी अपने किसी धार्मिक पर्व में हम जिस संख्या में सम्मिलित होते हैं, उसके शतांश में भी हम कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में नहीं पहुंचते। ऐसे देश के साहित्य में धर्म की प्रधानता होना अनिवार्य है। फलतः हमारे यहाँ के दृश्यकाव्य, श्रुतिकाव्य और कथा-साहित्य, सभी के नायक धर्म-प्राण और धर्म-परायण ही चित्रित किये जाते हैं, या यों कहिए कि हम कट्टर हिन्दुओं की तीव्र धार्मिक प्रवृत्ति हमें आदर्श चरित्र की सृष्टि करने के लिए विवश करती है।† हमारी नैतिक भावना केवल गुण, पुण्य और धर्म का पाठ सिखलाने के लिए हम से पात्रों का आविष्कार कराती है। सदाचार-सरकस के संकुचित और संकीर्ण क्षेत्र में, निर्धारित और नियमित व्यापार सम्पादित करने के लिए, लेखक प्रकृति-सिंहनी को नीति के विद्युत-दण्ड से सदा धमकाता और दबाता रहता है। परन्तु सिंहनी को उसके स्वाभाविक रूप में देखने का इच्छुक दर्शक, यद्यपि उसके इन कष्ट-साध्य कार्यों पर तालियाँ बजाता है, फिर भी उससे संतुष्ट नहीं होता। वह जानता है कि उसे अपनी सम्पूर्ण, स्वतन्त्र, स्वाभाविक चेष्टाओं को व्यक्त करने की स्वच्छंदता नहीं मिल

---

† आज भी श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय और श्री श्यामाकान्त पाठक के महाकाव्यों के नायक श्री राम और श्रीकृष्ण ही बने हुए हैं: साकेत, प्रिय-प्रवास, श्याम सुधा।

रही है। वह उसे उस रूप में भी देखना चाहता है जब, उत्ताप और मनोवेग बाण से विद्ध होकर, वह उन्मत्त हो उठती है; कराहती और चीत्कार करती है, गरजती और आक्रमणकारी पर टूट पड़ती है। मानव प्रकृति का पर्यवेक्षक पाठक भी, इन लेखकों से खीझ कर, कह उठता है —

"You will not show nature as it is when, stung by passion as by a hot iron, it cries out, rears, and plunges over your barriers"*

हमारे लेखक का आदर्शवाद तो, पात्र के व्यक्त होने के लिए तड़पते मनोविकारों का बरबस गला घोंट देता है। लेखक पात्र को, उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं, अपने सिद्धान्त के अनुसार ही चलाता है। इस प्रकार वह पात्र, स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति-सम्पन्न, सजीव प्राणी न रहकर, केवल सदाचार सूत्र के सहारे, लेखक के इंगित पर नाचने वाली कठ-पुतली ही बन जाता है। वह हमारे पाप-पुण्यमय जीव-लोक का गुण-दोषयुक्त अपूर्ण मानव न होकर स्वर्ग की निर्दोष, निर्विकार सम्पूर्ण विभूति ही ठहरता है। उसे हम भय, कौतूहल, आदर और श्रद्धा से देखने लगते हैं; परन्तु अपना प्यार, अपनी करुणा, सहानुभूति, घृणा, ईर्ष्या उसे नहीं दे सकते। उसके निष्कलंक चरित्र, उसकी निर्मल आत्मा को देखकर हम आपस में कहने लगते हैं—यह मानव नहीं; मानवता तो अपूर्ण है। यह हममें से एक नहीं; इसे हम, अपना कहकर, गले से नहीं लगा सकते। यह अद्वितीय है, दिव्य है, अद्भुत है, अलौकिक है। चलो, मन्दिर में चलकर हम इसकी मूर्ति की स्थापना करें और उसे पूजें।

---

*H A. Taine, D. C L History of English Literature Translated by H Van Laun Vol. II Chap The novelists

और साथ ही ऐसे आदर्श पात्र के आदर्शवादी, धर्मोपदेशक जनक से ऊब कर हम कह उठते हैं —

"We know not what to do with this small and noisy moralist who is inhabiting one corner of a great and good man"*

हमें यह देखकर संतोष और सुख होता है कि प्रस्तुत कहानियों के पात्र ऐसे नहीं हैं। प्रमोद, विनोद, कुन्दन, विमला, व्रजांगना इत्यादि के चरित्र-चित्रण में कुमारी जी ने मनुष्य-स्वभाव की अवहेला नही की है। वे प्रकृति के नियमों को स्थगित या परिवर्तित नहीं करतीं। वे पार्थिव जीवन का क्रम भंग नहीं करतीं। अपने पात्रों के चरित्रों को सर्वत्र नियंत्रित, विनियत और सम्पूर्ण व्यवस्थित कर मानव-क्षेत्र को संकुचित और संकीर्ण नहीं बना देतीं। न तो वे इन पात्रों में, किसी धर्म-धुरीण और सुजन-शिरोमणि का ही चित्र खींचती हैं, और न अधमाधम नारकीय पिशाच

[illegible] लिये, न तो वे
गुणों के कोष
रित्र के दोषों

को पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए, दानव और दैत्यों के गैरवीय कुकर्मों की सूची ही छान डालती हैं। वह तो छाया, चिन्दो, योगेश, अखिलेश, बैरिस्टर गुप्ता, मिस्टर मिश्रा आदि सभी पात्रों को उनके वास्तविक रूप में सजाकर उपस्थित करती हैं। वे सभी मानव-गुण-विकार-सम्पन्न हैं। वे जीते-जागते इसी जगत के जीव हैं। उनमें मानवीय जीवन का अनवरुद्ध प्रवाह हो रहा है। प्रत्येक के चरित्र में वास्तविक जीवन का अप्रतिहत आकर्षण है। हम उस पात्र से तटस्थ

* G. K. Chesterton Simplicity and Tolstoy.

या उसके प्रति उदासीन नहीं रह सकते। उसका प्रत्येक सम्पर्क हमारी संवेदन-शक्ति और हमारी सहृदयता को जागृत करता है; उसका हर स्पर्श हमारी रागात्मिका प्रकृति को संक्षुभित कर, हमें अपने में हठात् प्रवृत्त, करा लेता है। मानवता के नाम पर हमारा आह्वान कर मानों वह हम से कहता है—

आओ, मेरे समीप आओ। मैं तुम जैसा ही एक मानव हूं। मुझ में भी तुम्हारे ही गुण-दोष, तुम्हारी दुर्बलता और तुम्हारी ही क्षमता है। मुझ में भी वही मनोविकार मिलते हैं जो तुममें हैं। शरीर सम्बन्धी मेरे मन के भी प्रायः वही अनुभव हैं जो तुम्हारे मन के। मैं भी संसार-संघर्ष में कभी सफल होता हूं कभी विफल। दु ख और पीड़ा से कभी कराह उठता हूं; सुख और आनन्द से कभी उछल पड़ता हूं। क्रोध घृणा, प्रतिहिंसा, दया, प्यार, सहानुभूति का मुझ में भी बारी-बारी से उदय होता है। मेरा जीवन-पट भी सुख-दुख के धूप-छांही डोरों से बुना हुआ है। मेरे जीवन जगत में भी आलोक और अन्धकार, आशा और निराशा, उत्थान और पतन क्रम-क्रम से आते-जाते हैं। मैं तुम्हीं में से तो एक हूं। वह देखो! समय की चपल सरिता किस क्षिप्र वेग से हमारे इस क्षुद्र जीवन-तृण को बहाती चली जाती है। कौन कह सकता है, कब और कहां वह इसे फेंक देगी? और यह प्रबल परिस्थितियों का प्रचण्ड प्रेत! आकाश-भेदी पर्वत-श्रेणी पर आरूढ़ इस भीमकाय, विकराल पिशाच को तो देखो। वह हम जैसे कितने ही अल्पप्राण, क्षुपकाय, अक्षम वामनों को उस उत्तुंग शिखर पर से, शिला से लटका कर हमारे वायु-प्लव पर कैसा क्रूर अट्टहास करता है। तब आओ; मेरे ओर भी निकट आओ। हम अपने मिथ्या आचरण को

हटाकर, अधिक विश्रम्भ और विश्वास के साथ क्षण भर के लिए ही सही, अपने हृदय की कह-सुन लें।

"Let us talk of each other why should we wear this mask? Let us be confidential Who knows? We might become friends" *

उसका स्वर, उसकी भाव-भंगि, उसके मनोराग, उसकी चित्तवृत्तियाँ, उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया मनुज-भावना के सर्वथा अनुरूप है। स्वयं हीना के मुँह से उसके जीवन की एक घटना का उल्लेख सुनकर ही हमें उसकी मानवता पर सन्देह नहीं रह जाता।

"बड़ी होने पर एक दिन कलूटे कुन्दन ने मुझ से लड़ाई में कह दिया कि हम तुम्हारे सरीखा गोरा गोरा मुँह कहाँ से लावें। बेचारा कुन्दन क्या जाने कि उसने इन शब्दों में कौन सा जादू फूँक दिया कि फिर मैं उससे लड़ न सकी, इस बात के उत्तर में उसे पत्थर फेंक कर मार न सकी। हाँ, मैंने अन्दर जाकर दर्पण के सामने खड़ी होकर, कुन्दन से अपने मुँह की तुलना अवश्य की।"

[उन्मादिनी]

हीना और बिन्दो, योगेश और प्रमोद, राय साहब और बैरिस्टर गुप्ता हमें पूर्णतया परिचित से प्रतीत होते हैं। वे हमारे समाज के ही व्यक्ति हैं, जिनके संसर्ग में हम अपने प्रतिदिन के जीवन में आते रहते हैं। पवित्र ईर्ष्या में विनोद की सृष्टि कर लेखिका ने एक अनुपम पात्र सिरजा है, एक चरित्र गढ़ने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। छाया, कुन्दन, व्रजांगना विक्रान्ति के सिद्धान्तों पर निर्मित चरित्र हैं। वास्तव में, इन कहानियों के सभी पात्र सजीव और

*R. L. Stevenson Marlheim

सशक्त हैं। हाँ, अपेक्षाकृत स्त्री-पात्र अधिक प्रभावशाली, ओजस्वी, आकर्षक और सम्पूर्ण हुए हैं। एक स्त्री लेखिका से हम इसकी आशा भी करते हैं। इस दृष्टि से कुमारी जी की कहानियाँ हमारे लिए अपना विशेष महत्व रखती हैं। कुमारीजी ने अपने स्त्री-पात्रों के चरित्र-चित्रण में नारी-हृदय के उन रहस्यपूर्ण, निभृत स्थलों पर प्रकाश डाला है, जो एक पुरुष-लेखक के लिए यदि अगम नहीं तो दुर्गम अवश्य कहे जा सकते हैं। लेखिका की बोध-वृत्ति अपने आपको इन कहानियों में प्रधानतः उन मनोभावों, मनोवेगों, भावनाओं और चित्तचेष्टाओं के विश्लेषण तथा प्रकटीकरण में संलग्न रखती है जिनका सम्बन्ध विशेषतः नारी से है—जो पूर्णतया स्त्रैण ही हैं।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि कुमारी जी ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में यथार्थता और वास्तविकता से ही काम लिया है। मानव-जीवन और मनुज-स्वभाव का सच्चा चित्र खींचा है। धर्म और सदाचार का भय उन्हें सत्य का स्वरूप उपस्थित करने से नहीं रोक सका है। इससे मेरा यह तात्पर्य नहीं कि लेखिका ने अपनी कहानियों में नीति और सच्चरित्रता के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया है। नहीं, अवहेलना की बात तो दूर रही, कुमारी जी ने उनके प्रति उदासीनता भी नहीं दिखलायी है। अपनी कहानियों में जो मनुष्य-जीवन का चित्र खींचेगा वह मनुष्य-जीवन से पूर्णतया सम्बद्ध (वास्तव में उसी के एक अंग) नीति के प्रति उदासीन कैसे रह सकता है? मेरा अभिप्राय तो केवल इतना है कि सदाचार की शिक्षा देने की आतुरता ने पात्रों

को देखता नहीं बता दिया। लेखिका का विश्वास है कि—

"The truest kinship with humanity would lie in doing as humanity has always done, accepting with a sportsmanlike relish the estate to which we are called, the star of our happiness, and the fortunes of the land of our birth."*

उसके पात्रों के स्वाभाविक व्यापार में उपदेश-प्रवृत्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकी है। लेखिका के सदुपदेश, नीति और धर्म हमारे लिए यन्त्रणा-स्वरूप नहीं हो जाते। वह उनकी ओर मधुर संकेत करती है। उनके प्रोत्साहन तथा प्रचार में वह पर्याय का प्रयोग करती है। उसकी कहानियों में उपदेश और शिक्षा ऊपर से ही नहीं दृष्टिगोचर हो जाते। कोई भी कहानी उनके लिए ही लिखी गई नहीं मालूम होती। हाँ, स्वयं समूची कहानी चाहे भले ही हमें शिक्षा और सदुपदेश जँचने लगे। चूड़ी की खोज हमें इसके एक उदाहरण का काम दे सकती है। फिर लेखिका अपने पात्रों को हम-जैसा ही दिखलाकर पहले उनके लिए हमारी सहानुभूति प्राप्त कर लेती है, और जब उसके प्रत्येक पात्र को हम अपने में से एक समझने लग जाते हैं, तब वह उसकी दुर्बलताओं और उसके दुराचरण को दिखलाकर हमें हमारे अभावों और दोषों का ज्ञान कराती है। वह घटनाओं को औपन्यासिक अर्थ में, वास्तविक रूप देती है। उसकी यह यथार्थकारिणी शक्ति हमें सहज ही आकर्षित कर हमारा मनोरंजन करने लगती है। इस मनोरंजन के रूप में,

* G. K. Chesterton: Simplicity and Tolstoy.

हमारी सत्प्रवृत्तियाँ भी धीमे-धीमे उकसायी जाती हैं। यह निःसन्देह सूक्ष्म कला है। उदाहरण के लिए आप अट्ठी की खोज, सोने की कंठी या रुमिपुत्रा को ही लीजिए। प्रत्येक में सत्य का नग्न चित्र उपस्थित है। उसमें सात्विक जीवन और आदर्श चरित्र की सृष्टि नहीं की गई; परन्तु फिर भी वह नैतिक भावना से प्रेरित है और हमारी उच्च भावनाओं को ही जागृत करती है। चरित्र-भ्रष्ट होकर भी योगेश और विंदो हमें सदाचार की जा शिक्षा देते हैं, वह एक सर्वशास्त्रपारंगत, धर्म-धुरीण पुरोहित जी की सामर्थ्य के बाहर है। अवसर तथा स्थिति की गुरुता और गहराई को देखकर उसके सम्बन्ध में वितर्क-वितर्क करने का हमारा साहस ही नहीं होता। घटनाओं की वास्तविकता हमें उसकी सत्यता पर और भी सन्देह नहीं होने देती। न तो उनके भाव ही और न उनके व्यञ्जक व्यापार, चेष्टाएँ तथा शब्द ही हमें कृत्रिम-से लगने पाते हैं। सहानुभूति से विधेयीकृत और प्रवण हम एक शब्द, एक इंगित द्वारा भी उन पात्रों के प्रति अविश्वास या अश्रद्धा नहीं व्यक्त करते। पश्चात्ताप से संतप्त अन्तस्तल को शीतल करने वाले वाक्-स्रोत का प्रत्येक शब्दाश्रु हमारे हृदय को करुणार्द्र बना देता है। पतन और प्रायश्चित्त की कथा सुनते-सुनते जब उनके मुख पर हम मानसिक अशान्ति, आत्मग्लानि और अन्तर्व्यथा का ताण्डव देखते हैं, तब हमारी आत्मा विवेक-हीनता और विकर्म की भयंकरता से काँप उठती है, और हम श्मशान की विषण्ण गभीरता के साथ जीवन की विषमता, मनुष्य की दुर्बलता तथा परिस्थितियों की प्रतारणा पर विचार करते हुए, अधिक सतर्क और प्रबुद्ध होकर अपनी जीवन-यात्रा में आगे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार कदाचार की कालिमा में

सच्चरित्रता समुपस्थित होकर व्यतिरेक द्वारा अपनी उज्ज्वलता सहज ही भासित करने लगती है।

कुछ लेखिका के शैली-समन्वय के सम्बन्ध में भी कह देना उचित होगा। पहली बात, जो कोई भी पाठक इन कहानियों को पढने के बाद कह देगा, यह है कि लेखिका अकारण चिंतन या निर्निमित्त निष्कर्ष निकालने के लिये अनावश्यक विश्राम लेकर अपनी कहानी के स्निग्ध-प्रवाह में बाधा नहीं बनती। विवेचनात्मक विचारों या सिद्धांत-वाक्यों का वह बहुत-कम प्रयोग करती है। सिद्धांत या निष्कर्ष निकालने का भार, पात्र के कार्यों की पग पग पर आलोचना प्रत्यालोचना करने का उत्तर दायित्व और अपने शब्दों में मानव स्वभाव-विश्लेषण की सतर्कता वह अपने चतुर पाठक पर ही छोड़ती जाती है। वह तो एक व्यापार से दूसरे व्यापार पर चलती है। यह कहानी की शृंखला को सुदृढ बनाए रहता है; उसकी रोचकता में किसी प्रकार भी कमी नहीं होने देता। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि कुमारी जी की कहानियों में ऐसे विवेचनों, व्याख्याओं, आलोचनाओं और सिद्धान्तों के दर्शन भी नहीं होते। मेरा अभिप्राय केवल इतना है कि लेखिका अपने कहानी-जगत में बार-बार व्याख्याता बन कर प्रत्यक्ष रूप से हमें यह स्मरण दिलाने के लिए नहीं आती कि जिसे हम देख या सुन रहे हैं वह वास्तविक घटनाक्रम नहीं, एक विद्वान् आलोचक की कृति है। विवेचनात्मक और सिद्धांतपूर्ण वाक्यों का उसने बहुत कम प्रयोग किया है, जैसा कि मेरी समझ में एक कहानी में होना भी चाहिए। और जहां वे प्रयुक्त हुए हैं वहां वे युक्ति सगत, यथा स्थान और विशेषतः कहानी की प्रगति को

वेग और तीव्रता ही प्रदान करते हैं, उसकी गति में विघ्न-बाधा नहीं बनते। वे स्वयं कथा-भाग से कम रोचक या ग्राही नहीं हैं। लेखिका की उन व्याख्यापूर्ण उक्तियों और सिद्धान्त-वाक्यों में मानव-स्वभाव का विश्लेषण, सत्य के स्वरूप का निदर्शन बड़े सुन्दर ढंग पर हुआ है। एक-दो उदाहरण देखिए—

"यों तो शीशे में अपना मुँह रोज ही देखा जाता है, परन्तु आँखें कभी-कभी केवल अपने आप को ही देखती रह जाती हैं। गहरे अँधेरे में बन्द हृदय भी कदाचित् अपना स्वरूप दर्पण में देखने के लिए मचलने लगता है, आँखों से लड़ जाता है और उसकी सौन्दर्य-समाधि को तोड़ देता है।"

× × × ×

"व्याकुलता असम्भव को भी सम्भव बनाने की धुन में रहती है।

× × × ×

"मैंने सुना है एक समय ऐसा आता है जब कुरूप-से-कुरूप व्यक्ति भी अपने आप को सुन्दर समझने लगता है।"

[उन्मादिनी]

× × × ×

"सुख की आत्म-विस्मृति तक बाह्य आवश्यकताओं की पहुँच कहाँ ?"

× × × ×

"स्त्रियाँ स्वभावतः सौन्दर्य की उपासिका होती हैं, जो जितनी अधिक सुन्दर होती है उसकी सौन्दर्योपासना उतनी ही अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है।"

[सोने की कंठी]

× × × ×

एकाध स्थल को छोड़कर, व्यर्थ, अनावश्यक और अरुचिकर वर्णनों को भी इन कहानियों में स्थान नहीं मिला है। विषय के अन्तरतम में ही लेखिका जैसे सहसा प्रविष्ट हो जाती है। यह भी इन कहानियों को रोचक बना देने का एक कारण है। नाटकीय तत्त्व का समावेश भी इन कहानियों में सुन्दर ढंग पर हुआ है। नाटकीय शैली का प्रयोग जहाँ-कहीं भी हुआ है वहीं कहानी अधिक सजीव और प्रभावोत्पादक होगई है। कहीं कहीं पर पात्र की वाह्य रूप रेखा, उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता एक-दो शब्दों के प्रयोग से ही जगा दी गई है। विविध वर्णों का स्वारस्य तथा संमिश्रण भी कहीं-कहीं पाठक को घटना-स्थल पर उतनी ही तीव्रता से आकर्षित कर विलँब रहने का आग्रह करता है जितना कि कथानक का क्रम। पात्रों का चरित्र-विश्लेषण भी महायासकृत नहीं दीखता। प्रधानत परिस्थितियों से विशेष सम्बन्ध रखने वाले चरित्र-तत्त्व का उपयोग ही पात्र के चरित्र चित्रण में लेखिका ने किया है। फिर पात्रों का चरित्र-चित्रण भी उनके कार्य-व्यापार, कथोपकथन द्वारा ही किया गया है। मेरी समझ में, कथोपकथनात्मक और घटनात्मक चित्रण पात्रों को जो सजीवता और विधायकता प्रदान करते हैं, वह सांकेतिक चित्रण या साक्षात् चित्रण नहीं करता। अभिनयात्मक चित्रण में पात्र स्वतन्त्र संकल्प शक्ति-समन्वित और अधिक जीते-जागते दीखते हैं, वे हमारे अधिक समीप होते हैं। कहानी में यही वाञ्छनीय होना भी चाहिए। कई स्थलों पर इन कहानियों के विचारों तथा भावों में काव्योचित उत्कर्ष भी देखने को मिलता है।

रसों के संचार से भी लेखिका की सुरुचि और सतर्कता का परिचय मिलता है। वह पाठक की भावुकता तथा सहृदयता को सस्ता नहीं ठहराती। पात्रों के भावों और मनोविकारों को भी वह समुचित महत्व देती है। यदि वह किसी में कोई मनोविकार उत्पन्न करती है तो उसके लिए पर्याप्त कारण उपस्थित कर देती है। स्थिति, घटना और अवसर उसके अनुकूल आ जाते हैं। वही उसके कारण दीखते हैं। लेखिका के पक्ष में कोई आतुरता या प्रयास नहीं लक्षित होता। फिर प्रत्येक मनोवेग संक्षिप्त और अपने गम्भीर रूप में ही व्यक्त होता है। वह सीमित, सम्बद्ध और समप्रमाण रहता है। करुण रस का संचार करने वाला एक स्थल देखिए। असहाय, मरणासन्न कुन्दन अपनी स्वप्न की रानी हीना को सहसा अपने सम्मुख पाकर कह उठता है—

"हीना रानी, अच्छा हुआ जो तुम आ गईं। थोड़ा पानी पिला दो, मैं बहुत प्यासा हूँ।"

[उन्मादिनी]

करुणा-जनक कितनी संक्षिप्त फिर भी कितनी तीव्र, कितनी नियंत्रित फिर भी कितनी हृदय स्पर्शिणी अभिव्यक्ति है। कुन्दन का यह वाक्य सुनते ही जैसे श्रोता के कानों में गूंजने लगता है—अच्छा हुआ जो तुम आ गईं। किसी साधारण से लेखक के हाथ में पड़कर यही कुन्दन ऐसी स्थिति में दुरातिरेक से नाटकीय स्वर-शब्द-भाव-भंगी के साथ कुछ इस प्रकार बोल उठता—

कौन हीना रानी ! आओ, तुम अच्छी आयीं। तुम्हें देखने के लिए ही तो मेरे यह विकल प्राण छटपटा रहे थे। तुम्हारे दर्शन की लालसा ने ही इन आंखों को अब तक

खोल रखा है। जीवन की संध्या वेला में तुम्हें इस प्रकार अपने सम्मुख पाकर मैं अपनी साधना को सफल समझता हूँ। मैं सुख से भर रहा हूँ होना! मेरा इससे अधिक और सुखमय अन्त हो ही क्या सकता था? मुझे थोड़ा सा जल दे दो; आह, बड़ी प्यास मालूम होती है।

उपर्युक्त वाक्यावली अलंकृत और रसात्मक भी है, परन्तु फिर भी उसमें विषाद का वह गाम्भीर्य, वह गोपन, वह संवरण नहीं, जो लेखिका ने कुन्दन के उस एक वाक्य में भर दिया है। वही एक वाक्य कुन्दन की जिस विकल विवशता, सुकुमार करुणा और सुख पुलक को व्यञ्जित कर देता है, उसे यह प्रचुर वाक्य राशि व्यक्त करने में असमर्थ है। नि सन्देह करुणा का सचार दोनों अभिव्यक्तियों से होता है, परन्तु पहले में अगाध सागर की निस्तब्धता और गहराई है, दूसरे में बरसाती नदी का उथलापन और उसकी हरहराहट। पहली अभिव्यक्ति अधिक कलापूर्ण, व्यञ्जनात्मक और सुरुचि के अनुकूल है। कला के ससार में आत्म नियंत्रण सदैव गुण माना गया है। कहानी की छोटी-सी बस्ती में तो उसे वरदान का महत्व दिया गया है। यहाँ तो लेखक तरल, सूक्ष्म, कोमलतम एव व्यञ्जनात्मक शब्द स्वर-स्पर्श-रग द्वारा धीमे धीमे अपने चित्र को खींचता है। और फिर, इस आत्म-संवृति में भी तो बड़ी गहराई है।

एक उदाहरण और लीजिये। यहाँ लेखिका का वांछित भाव उपेक्षा है। एक दिन शीघ्र ही घर लौटने के प्रस्ताव पर खिन्न, विरक्त, पति प्रमोद छाया से जब उसका कारण पूछता है तब वह विनम्र स्वर में निवेदन करती

है कि आज अपने विवाह की पहली वर्ष-गांठ है। इसको सुनकर प्रमोद जो वाक्य कह कर वहाँ से चला जाता है, पाठक उसे ध्यान से देखें—

"ऊँह, होगी।"

बस यही नपे-तुले दो शब्द वह कहता है। किन्तु इस वाग्यम में भी छाया के प्रति प्रमोद की जो तीव्र उपेक्षा, जो निर्मम उदासीनता, जो उग्र विरक्ति अभिव्यञ्जित होगई है, वह वाग्बाहुल्य में भी सम्भवतः नहीं हो सकती है। फिर कितने स्वाभाविक ढंग पर ही वह व्यक्त की गई है। कला की सबसे बड़ी देनगी यही हो सकती है।

हास्य के दो-एक उदाहरण लीजिए। उन्मादिनी में हीना कहती है—

"किन्तु पिता जी तो चिट्ठी-पत्री से कुछ और ही तय कर रहे थे। सुना, कोई इंग्लैंड से लौटे हुए इंजीनियर हैं जिनके साथ पिता जी जीवन भर के लिये मुझे बांध देना चाहते हैं। सोचा, मुझे कौनसी इमारत खड़ी करवानी है या कौनसा पुल बँधवाना है जो पिता जी ने इंजीनियर तलाश किया है"।

पाठक देखें उपर्युक्त वाक्य-राशि निष्क्रिय, रिक्त हास या क्षुद्रतापूर्ण, अनर्गल अट्टहास को जन्म नहीं देती। वह केवल विचारपूर्ण, गम्भीर स्मित की ही सृष्टि करती है। एक सामाजिक व्यवस्था, एक प्रचलित परिपाटी के प्रति असंतोष व्यक्त कर उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। किन्तु उस कुरीति की आलोचना में—विवाह की अन्ध प्रथा के उस विरोध में—जिस हास्य का उपयोग हुआ है उसमें भी निर्दोष, विनीत और भोली भावना ही

गर्भित है, औद्धत्य और क्रूरता नहीं। हम चाहे उससे सहमत न भी हों, किन्तु फिर भी हम उसे पढ़कर प्रसन्न ही होंगे, क्रोध से उन्मत्त नहीं; हम आघात से तिलमिला नहीं उठते। यह हास्य सीमित और शिष्ट है, संक्षिप्त और सार्थक है, पर्यायोक्तियुक्त और प्रभावपूर्ण है। प्रत्युत्पन्नमति का एक उदाहरण हमें वेश्या की लड़की में मिलता है। प्रमोद के माता-पिता कंगन के सम्बन्ध मे बात-चीत कर रहे हैं—

"ऐसे कंगन मेरे लिये तो कभी न लाए। अपनी बहू के लिए कैसे चुपचाप खरीद लाए, किसी को मालूम भी न हुआ।"

"अरे तो ऐसे कंगन के लिए कलाई भी तो वैसी होनी चाहिए।"

पाठक देखें यह हास्य भी एक हलकी मुसकान को ही जन्म देता है। इसकी तह में पात्र या लेखक की विपद चित्त-तरंग और निर्दोष आनन्द-वृत्ति ही है, उसका वक्र भाव नहीं। यह अत्यन्त विनोदपूर्ण और मनोरंजक है। कहानियों में रसों का इस प्रकार संचार कला के उत्कर्ष तथा लेखिका की सुरुचि और उसके कोमल स्वभाव का परिचायक है।

भाषा की दृष्टि से भी कुमारी जी की कहानियाँ स्वाभाविक और सजीव उतरती हैं। कुमारी जी जिस प्रकार की भाषा लिखने में दक्ष है, वह कहानी के लिए सर्वथा उपयुक्त है। सीधी-सादी, लोचदार, बामुहाविरे तथा आडम्बरशून्य भाषा ही वे लिखा करती हैं। उनके गद्य में तो क्या, पद्य में भी यही भाषा प्रयुक्त होती है। मैं समझता हूँ कम-से-कम कहानी में तो इसकी उपयोगिता तथा श्रेष्ठता निर्विवाद सिद्ध है। कुमारी जी की यह सरल, सरस, बोल-चाल की भाषा कहानी के वर्णन और कथोपकथन में जो स्वाभाविकता और सजीवता ला देती है, वह अलंकृत,

समासान्त, संस्कृत-परिमार्जित भाषा की शक्ति के परे है। न तो वह भाषा बोलती हुई ही रहती है और न उसमें लोच ही उतना मिलता है। वह तो कहानी की निर्जीवता और कृत्रिमता बढ़ाने में ही सहायक होती है। फिर पात्र, स्थिति, अवसर और कार्य के अनुरूप ही लेखिका भाषा का प्रयोग करती जाती है। भाषा और भाव का यह स्वर-संग अभिव्यक्ति को तीव्र तथा प्रभावोत्पादक बनाने में सहज ही समर्थ होता है। कई स्थलों पर भावों में काव्योचित उत्कर्ष होने के कारण भाषा में भी रागात्मक तीव्रता देखने को मिलती है।

कहीं-कहीं छोटे-छोटे वाक्यों का विन्यास पात्र के व्यापार-वेग को अत्यन्त सफलतापूर्वक व्यंजित करता है। भाषा के उदाहरण देखिए:—

"......वह पुत्र को मनाने चले। रास्ते में सोचा, कहीं हाथ पैर छूने आई तो? लाख वेश्या की लड़की है, पर अब तो वह मेरी पुत्र-वधू है। क्या मैं खाली हाथ ही पैर छुआ लूंगा? सराफे की ओर घूम गए। वहाँ से एक जोड़ी जड़ाऊ कँगन खरीदे, और जेब में रखकर दस कदम भी न चल पाए होंगे कि सामने से प्रमोद आते दिखे। चन्द्रभूषण के पैर रुक गए, प्रमोद भी ठिठके। झुककर उन्होंने पिता जी के पैर छू लिए। चन्द्रभूषण की आँखों से गङ्गा-जमुना बह निकलीं। प्रमोद के भी आँसू न रुक सके। दोनों कुछ देर तक इसी प्रकार आँसू बहाते रहे; कोई बातचीत न हुई। अन्त में, गला साफ करते हुए चन्द्रभूषण ने कहा "घर चलो बेटा! तुम्हारी अम्मा रात-दिन तुम्हारे लिए रोया करती हैं।" प्रमोद ने कोई आपत्ति न की, चुपचाप पिता के साथ घर चले गए।

[वेश्या की लड़की]

× × × ×

तुम्हें किसने राखी बाँधी है, अखिल ?

सुधी ने बाँधी है और मैंने उसे एक रुपया दिया है, समझीं ?

तो तुम मुझसे राखी बँधवा लो अखिल भैया ? मुझे रुपया न देकर अठन्नी ही दे देना।

नहीं भाई, अठन्नी की बात तो झूठी है। मेरे पास इकन्नी है, वह मैं तुम्हें दे दूँगा। पर क्या तुम्हारे पास राखी है ?

राखी तो नहीं है, कौन ला देगा मुझे ?

तुम पैसे दोगी तो वह तो मैं ही लाऊँगा, वह तो कोई बड़ी बात नहीं है, पर मिन्नो ! राखी अकेली नहीं बाँधी जाती। राखी बाँधने के बाद बहुत से फल-मेवा और मिठाई भी तो दी जाती है। वह तुम कहाँ से लाओगी ?

मिठाई मैं माँ से माग लूगी और कुछ नीबू बगीचे से तोड़ लूगी, पर पैसे मेरे पास दो ही हैं, उसमें क्या राखी आ जायगी ?

दो पैसे में राखी और मिठाई मैं दोनों ला दूगा, मिन्नो ! अब तुम माँ से मिठाई न मांगो तब भी काम चल सकता है।"

[पवित्र ईर्ष्या]

× × × ×

अन्त में निवेदन स्वरूप दो-चार बातें मुझे कुमारी जी से अवश्य कहनी हैं, और वह यह कि वे अब अपनी कहानियों [illegible] ग-वस्तु में और [illegible] के चित्रण में, [illegible] र भावुकता के अतिरिक्त मस्तिष्क और विचार को भी स्थान दें। चरित्र चित्रण में मानव प्रकृति की अनेकरूपता प्रदर्शित

होने दें। चरित्र-वैचित्र्य आवश्यक है। वे पुरुष पात्रों के साथ और अधिक सहानुभूति रखें। उन्हें अपने मनोगत विचारों, अपनी भावनाओं, अपने कारणों तथा अपनी परिस्थितियों को समझाने का अवसर दें, या स्वयं ही उन पर प्रकाश डालने की चेष्टा करें। ऐसा करने से ही औचित्य की पूरी-पूरी रक्षा हो सकती है। जहाँ वे स्त्रियों के स्वत्वों और अधिकारों का पग पग पर उल्लेख करती हैं, वहाँ वे कभी-कभी उनके कर्तव्यों और उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में भी कुछ-न-कुछ अवश्य कहें। ऐसा करने से कहानियों में वाद-विवाद, असंतोष और मत भेद के लिए कम स्थान रह जायेगा। कहानियों के अन्त के सम्बन्ध में भी एक बात कह देनी आवश्यक है। विवरणात्मक होने पर यह पाठक की कल्पना को उचित सतर्कता और उत्तेजना प्रदान न कर, निष्क्रिय, निश्चेष्ट बना देता है। फिर, कहानी जब अपनी अतिभूमि पर पहुँच जाती है तब उसके बाद का प्रत्येक शब्द उसके सौन्दर्य को नष्ट करने लगता है। कहानी अपनी सीमा का उल्लंघन करने लग जाती है। वेश्या की लड़की और भगत की खोज के अन्त में हमें यही बात देखने को मिलती है। दोनों कहानियों के अन्त विवरणात्मक से हो गए हैं। हाँ, उन्मादिनी और भमिपुना के अन्त निर्दोष कहे जा सकते हैं। दोनों कहानियाँ हमारी सहानुभूति प्राप्त करते ही समाप्त जाती हैं। हमारी कल्पना उनके साथ हो लेती है। सोने की कंठी का अन्त तो निःसन्देह बहुत ही सुन्दर है। आश्चर्य और चमत्कार, जो एक अच्छी कहानी के विशेष गुण हैं, इस कहानी में प्रधानतः उसके अन्त के कारण ही उत्पन्न हुए हैं। सोने की कंठी के भेद को कहानी का अन्त न आ चुकने

तक गुप्त रखना विस्मय-वर्धन का विशेष कारण बन जाता है। कहानी का शीर्षक उस अन्त को श्रोर भी अधिक विस्मय-वर्धक बना देता है। सेने की कंठी का नाम पढ़कर पाठक उस कंठी के मुलम्मे की होने की सम्भावना को भी भूल जाता है। अस्तु।

कुमारी जी की कहानियाँ निःसन्देह अच्छी हैं; और बहुत अच्छी हैं। उनमें कला है, रोचकता है, आकर्षण है और उनकी उपादेयता भी निर्विवाद सिद्ध है। वे मनोविनोद के अतिरिक्त समाज-सुधार अतएव लोक कल्याण की दृष्टि में रखकर लिखी गई हैं। उनसे "स्त्रियों के हृदय को पहचानो और उसको चारों ओर फैलने और विकसित होने का अवसर दो" की ध्वनि उठती है, जो एक सच्ची स्त्री-लेखिका तथा उसके व्यक्तित्व का बोधक है। कुमारी जी स्त्री हैं; स्त्रियों के प्रति उनकी अधिक सहानुभूति होना भी स्वाभाविक है। कुमारी जी की उस ध्वनि में हम उनकी मनस्विता, उनके उत्साह, उनकी क्षमता, उनकी मृदु प्रकृति, उनकी निष्कपट मनोवृत्ति के दर्शन करते हैं। और यदि सामाजिक बन्धनों की सृष्टि कर अपने स्वत्वों को सुरक्षित रखने वाला हमारा सुखासीन, चतुर पुरुष-समाज पूर्णतया संकीर्ण-हृदय और पतित नहीं हो चुका है, तो वह उनकी इस स्त्री-स्वत्व प्रतिपादन-प्रार्थना के प्रति पराङ्मुखता का भाव प्रदर्शित नहीं कर सकेगा।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी वि. सं. १९९१
केशव-कुटीर, जबलपुर

केशव पाठक

कुछ मेरी और कुछ प्रेस वालों की असावधानी से इसी भूमिका के पृष्ठ १३ की १८ वीं पंक्ति में अतिभूमि के स्थान पर अवभूमि छप गया है। पाठक कृपा कर इसे ठीक करलें। केशव पाठक

[१]

उन्मादिनी

Shri Nath Tiwari

उन्मादिनी

लोग मुझे उन्मादिनी कहते हैं। क्यों कहते हैं, यह तो कहने वाले ही जानें; किन्तु मैंने आज तक कोई भी ऐसा काम नहीं किया है जिसमें उन्माद के लक्षण हों। मैं अपने सभी काम नियम-पूर्वक करती हूँ। क्या एक भी दिन मैं उस समाधि पर फूल चढ़ाना भूली हूँ? क्या ऐसी कोई भी संध्या गई है जब मैंने वहाँ दीपक नहीं जलाया है? कौन सा ऐसा सवेरा हुआ है जब ओस से धुली हुई नई नई कलियों से मैंने उस समाधि को नहीं ढक दिया? फिर भी मैं उन्मादिनी हूँ! यदि अपने किसी आत्मीय के सच्चे और नि:स्वार्थ प्रेम को समझने और उसके मूल्य करने को ही उन्माद कहते हैं तो ईश्वर ऐसा उन्माद सभी को दे।

क्या कहा— वह मेरा कौन था? यह तो मैं भी नहीं कह सकती; पर कोई था अवश्य; और ऐसा था, मेरे इतने निकट था कि आज वह समाधि में सोया है और मैं बावली की तरह उसके आस पास फेरी देती हूँ। उसकी और मेरी कहानी भिन्न भिन्न तो नहीं है। जो कुछ है यही है। सुनो!

बचपन से ही मुझे कहानी सुनने का शौक था। मैं बहुत सी कहानियां सुना करती और मुझे उनका वह भाग बहुत ही प्रिय लगता जहाँ किसी युवक की वीरता का वर्णन होता। मैंने वीरता की परिभाषा अपनी अलग ही बना ली थी। यदि कोई युवक किसी शेर को भी मार डाले तो मुझे वह वीर न मालूम होता; मेरा हृदय सुनकर उछलने न लगता। किन्तु यदि किसी युवती को बचाने के लिए वह किसी कुत्ते की टांग ही क्यों न तोड़ दे मुझे बड़ा बहादुर मालूम होता, मेरा हृदय प्रसन्नता से उछलने लगता। पहिले उदाहरण में स्वार्थ था, क्रूरता थी, और थी नीरसता। उसके विपरीत दूसरे उदाहरण में एक तरफ थी भय-ग्रस्त हरिणी की तरह दो आँखें और हृदय से उठने वाली अमोघ प्रार्थना, दूसरी ओर थी रक्षा करने की स्फूर्ति, वीर प्रमाणित होने की पवित्र आकांक्षा, और विजय की लालसा। इन सबके ऊपर स्नेह का मधुर आवरण था जो इस चित्र को और भी सुन्दर बना रहा था। कहानी-प्रेम ने मेरे हृदय को एक काल्पनिक कहानी की नायिका बनने की आतुरता में उड़ना सिखला दिया था।

जवानी आई और आई उसीके साथ मेरी कहानी की आशा भी। यों तो शीशे में अपना मुँह रोज ही देखा जाता है परन्तु आँखें कभी कभी केवल अपने को ही देखती रह जाती हैं। गहरे अंधेरे में वन्द हृदय भी कदाचित अपना स्वरूप दर्पण में देखने के लिए मचलने लगता है, आंखों से लड़ जाता है और उसकी सौंदर्य समाधि को तोड देता है। मैंने सुना है कि एक समय ऐसा आता है जब कुरूप से कुरूप व्यक्ति भी अपने को सुन्दर समझने लगता है, फिर मैं तो सुन्दरी थी ही।

बचपन में मा मुझे प्यार से 'मेरी सोना' 'मेरी हीरा' 'मेरी चांद' कहा करती थीं। बडी होने पर एक दिन कलूटे कुन्दन ने मुझसे लड़ाई में कह दिया कि "हम तुम्हारे सरीखा गोरा गोरा मुँह कहां से लावें?" वेचारा कुन्दन क्या जाने कि उसने इन शब्दों से कौनसा जादू फूंक दिया कि फिर मैं उस से लड़ न सकी; इस वात के उत्तर में उसे पत्थर फेंक कर मार न सकी। हां, मैंने अन्दर जाकर दर्पण के सामने खडी होकर कुन्दन के मुँह से अपने मुँह की तुलना अवश्य की। सच मुच मेरा मुँह वहुत गोरा था, परन्तु कुन्दन —कुन्दन भी तो काला न था, सांवला था। और मुझे सांवले ही पुरुष अच्छे लगते थे। वचपन में अनेक वार राधा-कृष्ण की कहानी सुनते सुनते मैं भी अपने को राधा-रानी समझने लगी थी। और कृष्ण? कृष्ण, वहुत तलाश करने पर भी सिवा कुन्दन के और कोई न मिलता। कुन्दन वांसुरी भी वजाता था और सांवला भी था, फिर भला मेरा कृष्ण सिवा कुन्दन के और हो भी कौन सकता था?

[२]

युवती होने पर मेरे विवाह की चर्चा स्वाभाविक थी। मने सुन रक्खा था कि विवाह कुछ चक्कर लगाकर होता है और एक अपरचित व्यक्ति उन्हीं कुछ चक्करों के बाद लड़की को अपने साथ लिया लेजाता है। किन्तु मुझे तो विवाह के चक्करों से वे चक्कर अधिक रुचते थे जो कभी कभी मैं कुन्दन के लिए और प्राय कुन्दन मेरे लिये लगाया करता था। मैं चाहती तो यही थी कि मुझे अब और किसी के साथ चक्कर न लगाने पड़ें मैंने तथा कुन्दन दोनों ने मिलकर जितने चक्कर लगाए हैं हमारी जीवन यात्रा के लिए उतने ही पर्याप्त हैं। किन्तु पिताजी तो चिट्ठी पत्री से कुछ और ही तय कर रहे थे। सुना, कि कोई इङ्गलेण्ड से लौटे हुए इञ्जीनियर हैं, जिनके साथ पिताजी मुझे जीवन भरके लिए बाँध देना चाहते हैं। सोचा, मुझे कौनसी इमारत खड़ी करवानी है या कौनसा पुल तैयार करवाना है जो पिताजी ने इञ्जीनियर तलाश किया। मेरे जीवन के थोड़े से दिन तो कुन्दन के ही साथ हँसते खेलते बीत जाते, किन्तु वहाँ मेरी कौन सुनता था? परिणाम यह हुआ कि यहाँ इतने चक्कर लगा कर भी मेरे ऊपर कुन्दन का कुछ अधिकार न हो पाया और इञ्जीनियर साहब ने, जिनसे न मेरी कभी की जान थी न पहिचान, मेरे साथ केवल सात चक्कर लगाए और मैं उनकी होगयी।

इधर मेरा विवाह होरहा था उधर कुन्दन बी. ए. की परीक्षा दे रहा था। सुना कि कुन्दन परीक्षा-भवन में बेहोश होगया। आह! बेचारा एक साथ ही दो दो परीक्षाओं में बैठा भी तो था!

विवाह की भीड़ भाड़ में, न जाने कितने मित्र और रिश्तेदारों की उस घट में, मेरी उत्सुक आँखें सदा कुन्दन को खोजती रहतीं किन्तु इन तीन चार दिनों में वह मुझे एक दिन भी न दिखा। विदा के दिन तो मेरे धैर्य का बाँध टूट गया। कुन्दन की बहिन से मैंने पूछा, मालूम हुआ कि वह कई दिनों से बीमार है। अब क्या करती, हृदय में एक पीड़ा छिपाए हुए मैं विदा हुई। स्टेशन पर पहुची। व्याकुलता असम्भव को भी सम्भव बनाने की उधेड़ बुन में रहती है; मैं जानती थी कि बीमार कुन्दन स्टेशन नहीं आ सकता फिर भी आँखें चारों तरफ किसी की खोज रही थीं।

इधर ट्रेन ने चलने की सीटी दी, उधर गेट की तरफ से कोई तेज़ी से आता हुआ दिखा। आँखों ने कहा कुन्दन है; हृदय ने समर्थन किया, किन्तु मस्तिष्क ने विरोध किया। भला वह बीमार स्टेशन पर कैसे आएगा! पर वह मेरा कुन्दन ही था। उसकी आँखों में निराशा-जनक उन्माद, चेहरे पर विषाद की गहरी छाया और ओठों पर वही स्वाभाविक मुस्कुराहट थी। सिर के बिखरे हुए रूखे बालों ने पूरा माथा ढँक रखा था। मैं चिल्ला उठी, "कुन्दन, इतनी देर बाद!" पास ही बैठी हुई नाइन ने मेरा मुँह बन्द कर दिया, बोली "चिल्लाओ न बेटी, बराती सुनेंगे तो क्या कहेंगे!" अब मुझे होश आया कि मैं कहीं जारही हूँ, अपने कुन्दन से दूर बहुत दूर। कटे वृक्ष की तरह मैं बेंच पर गिर पड़ी। हृदय जैसे डूबने लगा। ट्रेन चल पड़ी। जब मनुष्य के प्रति मनुष्य ही की सहानुभूति कम देखने में आती है तब भला इस जड़ पदार्थ रेलगाड़ी को ही मुझसे क्या सहानुभूति हो सकती थी! उसने मुझे कुन्दन

से दो बातें भी न करने दी और भक-भक कर हवाके साथ उड चली।

[२]

मैं ससुराल आयी। बडी भारी कोठी थी। बहुत सी दास-दासियां थीं। यहाँ का रंग ही दूसरा था। पति देव को अंग्रेजियत अधिक पसन्द थी। उनकी रहन सहन, चाल ढाल बात-व्यवहार सभी साहबाना थे। वह हिन्दी बहुत कम बोला करते और अंग्रेजी में समझती जरा कम थी, इसलिए उनकी बहुत सी बातों में प्राय: चुप रह जाया करती। उनके स्वभाव में कुछ रूखापन और कठोरता अधिक मात्रा में थी। नौकरों के साथ उनका जो बर्ताव होता उस देखकर तो मैं भय से सिहर उठती थी।

वे मुझे प्राय रोज शाम को और कभी सवेरे भी अपने साथ मोटर पर बैठा कर मीलों तक घुमा लाते, अपने साथ सिनेमा और थियेटर भी ले जाया करते, किन्तु अपने इस साहब बहादुर के पार्श्व में बैठकर भी मैं कुन्दन को न भूल सकती। सिनमा की तस्वीरों में रेशमी कुरता और धोती पहिने हुए मुझ कुन्दन की ही तस्वीर दिखाई पडती।

पति का प्रेम मैं पा सकी थी या नहीं यह मैं नहीं जानती, पर मैं उनस डरती बहुत थी। भय का भूत रात दिन मेरे सिर पर सवार रहता था। उनकी साधारण सी भाव भगी भी मुझे कँपा देने के लिए पर्याप्त थी। वे मुझ से कभी नाराज न हुए थे किन्तु फिर भी उनके समीप में

सदा यही अनुभव करती कि जैसे मैं बन्दी हूँ और यहां ज़बरदस्ती पकड़ कर लाई गई हूं।

इस ऐश्वर्य की चकाचौंध और विभूतियों के साम्राज्य में भी मैं अपने बाल-सखा कुन्दन को न भूल सकी। मायके की स्वच्छन्द वायु में कुन्दन के साथ का खेलना, लड़ना, झगड़ना और उसकी बाँसुरी की ध्वनि मुझे भुलाने से भी न भूलती थी। क्षण भर का भी एकान्त पाते ही बचपन की सुनहली स्मृतियाँ साकार बन कर मेरी आँखों के सामने फिरने लगतीं; जी चाहता कि इस लोक-लज्जा की जंजीर को तोड़कर मैं मायके चली जाऊँ। किन्तु इसी बीच छोटे भाई के पत्र से मुझे मालूम हुआ कि कुन्दन घर छोड़कर न जाने कहाँ चला गया है, उसका कहीं पता नहीं है। इसलिए मेरी कुछ कुछ यह धारणा हो गई कि अब इस जीवन में कैदखाने से निकल कर भी कदाचित मैं कुन्दन को न देख सकूंगी। मायके जाने की भी अब मुझे उत्सुकता न थी, अब तो किसी प्रकार अपने दिन काटना था। न तो जीवन से ही कुछ आकर्षण था और न किसी के प्रति किसी तरह का अनुराग ही शेष रह गया था; पर काठ की पुतली की तरह सास और पति की आज्ञाओं को पालन करती हुई नियम से खाती पीती थी, स्नान और शृंगार करती थी और भी जो कुछ उनकी आज्ञा होती उसका पालन करती।

इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिससे मेरी सोई हुई स्मृतियाँ फिर से जाग उठीं, मेरा उन्माद और बढ़ गया। एक दिन दोपहर के बाद मैं अपने छज्जे पर खड़ी हुई अन्यमनस्क भाव से बाहर सड़क पर से आने जाने वालों को देख रही थी।

सहसा सामने से कपडा बेचता हुआ, कुछ कपडे स्वयं कधे पर धरे हुए कुछ एक नौकर के सिर पर चुपचाप हुए मुझे कुन्दन दिखाई पडा। विश्वास न हुआ परन्तु आँखे खुली थीं, मैं सपना नहीं देख रही थी। दौड कर मैं नीचे आई और आते ही ख्याल हुआ, कि मेरे पैरों में तो मर्यादा की बेडिया पडी हैं, मैं कुन्दन के पास दौड कर कैसे जाऊँगी। उसके बाद मैंने देखा कि कुन्दन स्वयं ही मेरे यहा के एक नौकर के साथ हमारे अहाते में आ रहा है। बाहरी बरामदे में उसने कपडे उतार दिए। सास वहीं सोफे पर बैठी था। मैंने उनके बुलाने की प्रतीक्षा न की, चुपचाप आकर साफे के पीछे खडी होगई। मेरी सास सामान खरीदने की बडी शौकीन थी, हमारे दरवाजे पर से कोई फेरी बाला ऐसा न निकलता था जिससे वह कुछ न कुछ खरीद न लेती हों। आज सास की इस आदत की मैंने मुक्त हृदय से प्रशसा की। यदि उन्हें सामान खरीदने का इतना शौक न होता तो शायद मैं इस कपड़ वाले (कुन्दन) को इतने समीप से न देख पाती। मुझे अपने पीछे देखकर वह हँस कर बोलीं "बहू क्या लेती है, जो कुछ लेना हो अपने मन का पसन्द करले।" बेचारी सास क्या जानती थी कि कपडों से अधिक मुझ कपडे वाला पसद है। फिर भी उनके आग्रह स मैंने दो शान्तिपुरी साडियाँ ले लीं, उन्होंने भी अपने लिये कुछ साडिया खरीदीं। उसे दाम देकर और नई तरह की साडिया लाने के लिए कह कर सास ने उस बिदा किया।

कुन्दन में बडा परिवर्तन था। अब वह बहुत दुबला और अधिक सावला होगया था, चेहरे पर वह लालिमा न थी, किन्तु वही मनस्विता और तेज टपक रहा था जो पहिले

था। इस घटना को हुए करीब एक महीना बीत गया। लगातार रोज़ प्रतीक्षा करके भी इसके बाद फिर मैं कुन्दन को न देख सकी।

[४]

जेठ का महीना था बगीचे का एक माली छुट्टी पर गया था। बूढ़ा माली एक मेहनती आदमी की तलाश में था। चार बजे तक घर में बन्द रह कर गर्मी के कारण घबरा कर मैं अपनी सास के साथ बगीचे में चली गई। वहाँ बगीचे में मौलसरी की घनी छाया में चबूतरे पर मैं सास के साथ बैठी थी। बार बार यही सोचती थी कि कुन्दन कहाँ चला गया? कपड़ा लेकर फिर क्यों नहीं आया? बीमार तो नहीं पड़ गया? और अगर बीमार होगया होगा तो उसकी देख भाल कौन करता होगा? मेरी आँखों में आँसू आगये। इसी समय पीछे से आकर बूढ़े माली ने कहा "सरकार यह एक आदमी है जो माली का काम कर सकता है हुकुम हो तो रख लिया जाय।" मैंने जो मुड़कर देखा तो सहसा विश्वास न हुआ। कुन्दन! और माली का काम! मेरी बेसुध वेदना तड़प उठी। एक सम्पन्न परिवार का होनहार युवक १०) माहवार की मालीगिरी करने आए! इतनी कड़ी तपस्या!! हे ईश्वर! क्या इस तपस्या का अंत न होगा?

१०) माहवार पर कुन्दन बगीचे में माली का काम करने लगा। मैं देखती, कड़ी दोपहरी में भी वह दिन दिन भर कुदाल चलाया करता, पानी सींचता और टोकनी भर भर मिट्टी ढोता। उसका शरीर अब दिन दिन दुबला और सांवला पड़ता

जाता था। उसके स्वभाव में कितनी नम्रता थी, वह मेहनत के काम से कितना बचता था, मुझसे छिपा न था; किन्तु अब वह कितना परिश्रम कर रहा है! मुझे चिन्ता रहती थी कि उसका सुकुमार शरीर इस कठिन परिश्रम को सह न सकेगा। मैं चाहती थी कि किसी प्रकार उसे रोक दूं यह काम वह छोड़ दे, परन्तु कैसे रोकती, उससे बात करने की मुझे इज़ाजत ही कहाँ थी? पहिले की अपेक्षा अब मैं बगीचे में अधिक आने जाने लगी। पहिले तो इस आने जाने पर किसी ने ध्यान ही न दिया किन्तु कुछ ही दिन बाद टीकाटिप्पणी होने लगी। बाद में रुकावट भी पड़ने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि अब शाम-सुबह छोड़कर मैं प्राय दोपहर को जाने लगी। मैं कुन्दन से दो मिनट के लिए बात करने का अवसर खोजा करती थी, किन्तु मेरे पीछे भी लोग जैसे जासूस की तरह रहते थे। मैं एकान्त कभी न पाती और सबके सामने उससे बात करने का साहस न होता। कभी कभी मैं उसके नजदीक भी पहुंच जाती तो भी वह मेरी ओर आंखउठाकर न देखता मैं ही उसे देख लिया करती। अनेक बार जी चाहा कि आखिर कब तक ऐसा चलेगा, जाऊं, उसकी खुदाल छीन कर फेंक दूं और उसे अपने साथ लिवा लाऊं; अब उसकी तपस्या आवश्यकता से अधिक हो चुकी है उसे अब मेरे निकट रह कर मेरे स्नेह की शीतल छाया में विश्राम करना चाहिए।

उस दिन बड़ी गरमी थी। बन्द कमरे में पंखा और खस की टट्टियों के भीतर से मैं उस गरमी का अन्दाजा न लगा सकती थी। नींद न आरही थी, न जाने क्यों एक प्रकार

की बेचैनी से मैं अत्यंत अस्थिर सो थी। उठी, खिड़की खोल कर देखा कुन्दन अब भी कुदाल चला रहा है। जी न माना, दरवाजा खाल कर बाहर निकली। पंखा खींचने वाली दासी ने रोका "बहू इतनी गरमी में भीतर से बाहर न जाओ लू लग जायगी" मैंने उसे हाथ के इशारे से चुप रहने के लिये कहा और बगीचे में पहुची। कुन्दन की कुदाल रुक गई। कुदाल को जमीन पर एक तरफ फेंक कर उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखा मैंने कहा–"कुन्दन! तुम इतनी कड़ी तपस्या क्यों करते हो? क्या तुम्हें इस प्रकार काम करते देख कर मुझे कष्ट नहीं होता? क्या तुम्हारा शरीर इस मेहनत को सह सकेगा! तुम कहीं सुख से रहो ता मुझे भी शान्ति मिले। आखिर इस प्रकार जीवन को तपाने से क्या लाभ होगा? तुम तो मुझ से अधिक समझदार हो कुन्दन!"

सारी करुणा सिमट कर कुन्दन की आंखों में उतर आई। वह कुछ बोला नहीं, बोलता भी कैसे? उसी समय खाँसता हुआ बूढा माली अपनी कोठरी स बाहर आया और उसे कुदाल फिर उठा लेनी पड़ा।

मेरा स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता आरहा था। लोगों को सन्देह था, शायद मुझे टी. बी. होरहा है। पति देव मुझे भुवाली भेजने की तैयारी कर रहे थे, किन्तु वे क्या जानते थे कि भुवाली से भी अधिक स्वास्थ्य लाभ मैं कुन्दन के समीप, केवल उसके सहवास से कर सकती हू। मेरी दवा तो कुन्दन है। भुवाली और शिमला मुझे वह स्वास्थ्य नहीं प्रदान कर सकते आ मुझे केवल कुन्दन से स्वतंत्रता पूर्वक मिलने जुलने

से मिल सकता है। मैं उससे केवल स्वतंत्रता से बात चीत करना और मिलना जुलना चाहती थी और यही मेरे पति देव को स्वीकार न था।

नौकरों को वह मिट्टी के ठीकरों से भी अधिक गया बीता समझते थे। वह १०) माहवार देने के बाद समझते थे कि उन नौकरों की आत्मा और शरीर दोनों को उन्होंने खरीद लिया है। उनसे इतनी सख्ती से पेश आते कि नौकरों को उनके सामने पहुँचने में बड़े साहस से काम लेना पड़ता। इधर कुन्दन से एक दिन खुलकर बात चीत करने के लिए रात दिन मेरे मस्तिष्क और हृदय में युद्ध छिड़ा रहता; अब न मुझसे पढ़ा लिखा जाता और न किसी काम में ही जी लगता। खाने पीने की तरफ़ भी कुछ विशेष रुचि न रह गई थी। खाना देखते ही वह दिन याद आ जाते जब मैं और कुन्दन दोनों एक ही थाली में बैठकर खाया करते थे। चा सामने आते ही कुन्दन की याद आ जाती मुझसे भी भी अधिक चा का भक्त तो वही था। और आज—आज वह मेरे बगीचे में माली है और मुझे इतनी भी स्वतंत्रता नहीं कि उससे एक दो बात भी कर सकूँ, फिर उसके साथ बैठकर चा पीना और भोजन करने की बात तो बहुत दूर की रही।

मैं रात दिन इसी चिन्ता में घुली जाती थी। किन्तु मेरी पीड़ा को कौन पहिचानता? अपने इस घर में तो मुझे सभी हृदय-हीन जान पड़ते थे।

एक दिन आफ़िस से लौटते ही पतिदेव ने मुझसे प्रश्न किया, "आखिर उस माली से तुम्हें क्या बातें करनी

रहती हैं औा दोपहर को भी बगीचे में जाया करती हो। कितनी बार तुमसे कहा कि नौकरों से बात चीत करने की तुम्हें जरूरत नहीं है पर तुम्हें मेरी बात याद रहे तब न? तुम इस बात को भूल जाती हो कि तुम एक इंजीनियर की स्त्री हो तुम्हें मेरी इज्जत का भी ख्याल रखना चाहिए।"

मैं कुछ न बोली? बोलती भी क्या? मैंने चुप रहना ही उचित समझा, मुझे उससे क्या बात चीत करनी रहती है मैं उन्हें क्या बतलाती? वह बतलाने की बात नहीं किन्तु समझने की बात थी और उसे वही समझ सकता था जिसके पास हृदय हो। जिसके पास हृदय ही न हो वह हृदय की बात क्या समझे? मेरी इस चुप्पी का अर्थ उन्होंने चाहे जो कुछ लगाया हो किन्तु उनकी इस बाधा से मुझे बड़ी वेदना हुई। कुन्दन से दो चार मिनट बात करके न तो मैं उनका कुछ बिगाड़ देती थी और न कुन्दन को ही कुछ दे देती थी, फिर भी कुन्दन से मिलने में उन्हें इतनी आपत्ति क्यों थी कौन जाने। चाहे जो हो इस बाधा का परिणाम उल्टा ही हुआ। ज्यों ज्यों मुझे उसके पास जाने से रोका गया, त्यों त्यों उसके पास पहुँचने के लिए मेरी उत्कंठा प्रबल होती गई।

[५]

गर्मी की रात थी। बगीचे में बेले इस प्रकार खिले थे जैसे आसमान में तारे फैले हों। मैं उन्हीं बेलों के पास एक संगमर्मर की बेंच पर बैठी थी। कई दिन हो गये थे कुन्दन बगीचे में काम करता हुआ न दिखा था। वह कहाँ गया? काम करने क्यों नहीं आता? यद्यपि यह जानने के लिए मैं

अत्यंत अस्थिर थी फिर भी किसी से कुछ पूछने का मुझ में साहस न था। अत्यंत उद्विग्नता से मैं बगीचे में इधर उधर टहलने लगी। टहलते टहलते मैं मालियों के क्वार्टर्स की तरफ़ निकल गई। दूर से कुन्दन की कोठरी कई बार देखी थी। आज उस कोठरी के बहुत समीप पहुँच गई थी। कोठरी में प्रकाश तो न था किन्तु अन्दर से कराहने की आवाज साफ़ २ सुनाई पड़ती थी। मैंने ध्यान से सुना, आवाज कुन्दन की थी। अब मैं बिलकुल भूल गई कि मैं किसी इंजीनियर की स्त्री हूँ और कुन्दन मेरा माली। तेजी से कदम बढ़ा कर मैं कोठरी में पहुँच गई-बिजली का बटन दबाते ही कोठरी में प्रकाश फैल गया और कुन्दनने घबराकर आँखे खोलदीं। मुझे देखते ही इस बीमारी में भी उसकी आँखें चमक उठीं, और यह वही चमक थी जिसे उसकी आँखों में मैंने एक बार नहीं अनेक बार देखा था। मैं उसी की चारपाई पर उसके सिरहाने बैठ गई। तेज बुखार से उसका शरीर जल रहा था। मालूम हुआ कि बुखार तो उसे कई दिनों से आ रहा है किन्तु काम वह फिर भी बराबर करता रहा है; इधर कई दिनों से वह बहुत अशक्त हो गया है और दो दिनों से छाती और पंसलियों में अधिक दर्द होने के कारण वह कोठरी से बाहर नहीं निकल सका। उसकी अवस्था चिन्ता-जनक थी। कुछ देर तक खाँस कर वह फिर बोला-"हीना रानी, तुम आई तो हो, कोई तुम्हें कुछ कहेगा तो नहीं? पर अब तो आई ही हो अपने हाथ से एक गिलास पानी पिला दो, बड़ी देर से प्यासा हूँ। मैंने मटकी से एक गिलास भर पानी उसे पिलाया और फिर बैठ गई। मैं उसके सिर पर हाथ फेरने लगी। मेरी आँखों से रोकने पर भी झड़ी लगी

थी और गला रुँधा जा रहा था। प्रयत्न करने पर भी मैं कुन्दन से एक शब्द न कह सकी। कुन्दन ने अपने गरम गरम हाथों को नीचे झुका कर मेरे पैरों को छू लिया और क्षीण स्वर में बोला, "हीना रानी, घर जाओ। तुम्हें कोई यहाँ देख लेगा तो नाहक ही तुम पर कोई आपत्ति न आजाय? कहीं मेरा यह सुख भी न छिन जाय? तुम्हारे समीप इस हालत में भी रह कर मैं एक प्रकार का सुख ही पाता हूँ"

ठीक इसी समय पति देव ने कोठरी में प्रवेश किया। उन्होंने आग्नेय नेत्रों से मेरी तरफ़ देखा, फिर कुछ बोले। क्या बोले मैं कुछ समझी नहीं। मैं उसी प्रकार कुन्दन के सिर पर हाथ धरे बैठी रही। मेरी आत्मा ने कहा, मैंने कोई अपराध नहीं किया है, किसी बीमार की शुश्रूषा करना मनुष्य मात्र का धर्म है। फिर मृत्यु की घड़ियों को गिनते हुए, उनकी नज़रों में अपने एक आश्रित और अपनी आँखों में अपने एक बाल सखा को, यदि मैंने एक घूंट पानी पिला दिया तो क्या यह कोई अपराध कर डाला? किन्तु मैं उसी क्षण कोठरी छोड़ देने के लिए बाध्य कर दी गई। मैं ऊपर आई तो अवश्य परन्तु मेरी अवस्था पागलों की तरह हो गई थी; रह रह कर कुन्दन की रुग्ण मुखाकृति मेरी आँखों के सामने फिरने लगी। बार बार ऐसा मालूम होता कि कुन्दन एक घूँट पानी के लिए चिल्ला रहा है। पतिदेव सोए थे मैं भी एक तरफ पड़ी थी। पर मेरी आँखों में नींद कहां? उठी और छज्जे पर बेचैनी से टहलने लगी। बँगले के पास ही बिजली के खंभे के नीचे मैंने कुछ सफेद सफेद सा देखा। एक अज्ञात आशंका से मैं सिहर उठी। ध्यान से देखा वह कुन्दन था।

कदाचित् जीवन की अन्तिम श्वासें गिन रहा था। उस समय न तो कुल की मान-प्रतिष्ठा का ध्यान रहा, न किसी के भय का; और न यही ध्यान रहा कि इतनी रात को लोग मुझे बाहर देख कर क्या कहेंगे। चौकीदार मेरी आज्ञा का उल्लंघन कैसे करता? फाटक खुलवाकर मैं बाहर निकल गई। पास पहुँच कर देखा, कुन्दन ही था। आह! वही अपने माता पिता का दुलारा कुन्दन, अपने मित्रों का प्यारा कुन्दन, जिस का कुम्हलाया हुआ मुख देख कर कितने ही हृदय सहानुभूति से द्रवीभूत हो उठते थे, जिसके इंगित मात्र पर परिचारक वर्ग सेवा के लिए प्रस्तुत रहता था, आज वही कुन्दन जीवन के अन्तिम समय में अकेला और असहाय शून्य दृष्टि से आसमान की ओर देख रहा है। मुझे देखते ही जैसे उसमें कुछ शक्ति आगई हो। वह क्षीण स्वर में बोल उठा, "हीना रानी, अच्छा हुआ जो तुम आगईं। थोड़ा पानी पिलादो मैं बहुत प्यासा हूँ" मैंने पानी के लिए चारों तरफ नज़र दौड़ाई। थोड़ी दूर पर नल तो था पर बरतन कोई न था जिससे मैं उसे पानी पिलाती। सोचा घर तक जाऊं, पर घर जाने का समय न था। नल पर से साड़ी का छोर पानी से भिगो कर लौटी, परन्तु अब वह पानी माँगने वाला इस संसार में था ही कहां?

बस मेरी या उसकी कहानी यही है।

---

[२]

असमंजस

असमंजस

"आप इतने दिन से आये क्यों नहीं केशव जी ?" सभा-मंडप से बाहर निकलते निकलते कुसुम ने पूछा।

"मैं अपने मित्र वसन्त के साथ बाहर चला गया था।" केशव ने वसन्त की ओर इशारा करते हुए जवाब दिया।

कुसुम ने वसन्त की ओर देखा फिर ज़रा रुकती हुई बोली—"क्या यही आपके मित्र वसन्त हैं ? मैंने जैसे इन्हें पहिले कभी देखा है। कान्वोकेशन डिबेट में फर्स्ट प्राइज़ क्या आपही को मिला था ?"

कान्वोकेशन-डिबेट में फर्स्ट प्राइज़ जीतने वाला वसन्त एक बालिका के सामने कुछ घबरा सा गया, उसका चेहरा लाल हो गया, उसने कुछ भी उत्तर न दिया।

केशव ने कहा—"हाँ, प्राइज इन्हीं को मिला था।" उसके बाद कुसुम, वसन्त और केशव दोनों को शाम के समय अपने यहाँ चाय के लिये निमंत्रित करके अपने पिता के साथ कार पर बैठ कर चली गई।

कुसुम कुमारी अपने माता-पिता की इकलौती कन्या है। इलाहाबाद के जार्जटाउन मुहल्ले में, जहाँ शहर के धनी मानी व्यक्तियों के बंगले हैं वहीं, कुसुम के पिता की एक विशाल कोठी है। शहर के प्रमुख धनी व्यक्तियों में उनकी गणना है। उनके पास मोटर है, गाड़ी है और भी न जाने क्या क्या है। दस पाँच नौकर सदा उनके घर पर काम किया करते हैं। घर बैठे केवल लेन-देन से ही उन्हें छै सात सौ रुपये मासिक की आमदनी हो जाती है। कुसुम ही उनकी एक मात्र सन्तान है जो वहीं क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल में मैट्रिक में पढ़ती है। केशव कुसुम का पड़ोसी है, यूनिवर्सिटी कालेज में बी० ए० का विद्यार्थी है। वसन्त केशव का सहपाठी है, वह अपने मामा के साथ अहियापुर में रहता है, वसन्त के माता-पिता बचपन में ही मर चुके हैं और तभी से वसन्त अपने मामा का आश्रित है। वसन्त पढ़ने-लिखने में कुशाग्र बुद्धि सदाचारी, सरल स्वभाव और मिलनसार है इसलिए शिक्षक उसे चाहते हैं और सहपाठी उसका आदर करते हैं।

[२]

शाम को केशव के आग्रह से वसन्त कुसुम के घर तक आया तो जरूर था किन्तु उसे वहाँ बात बात में संकोच मालूम हो रहा था। जब कुसुम उन्हें लेकर मखमली सीढ़ियों पर से ऊपर अपने ड्राइंग रूम में जाने लगी तब वसन्त ने अपने पैरों की ओर देखा—जहाँ कुसुम के कमल सरीखे

मुलायम पैर पड़ रहे थे, वहाँ अपने धूल भरे पैरों को रखने में उस को कुछ अटपटा सा लगा। कमरे में पहुँच कर वहाँ की विभूतियों को देख कर वसन्त भौचक-सा रह गया। ऐश्वर्य के प्रकाश में उसे अपनी दशा और भी हीन मालूम होने लगी। उस वातावरण के योग्य अपने को न समझ कर कर उसे कष्ट ही हो रहा था। वह बार-बार सोचता था कि मैं नाहक ही यहाँ आया।

कुसुम अद्वितीय सुन्दरी थी। उसकी शिक्षा और व्यवहारिक ज्ञान ने सोने में सुहागे का सा काम कर दिया था। उसके शरीर पर आभूषणों का विशेष आडम्बर न था। वह एक साफ़ लाल किनारी की साड़ी पहिने थी जो उसकी कान्ति से मिलकर और भी उज्ज्वल मालूम हो रही थी। कुसुम का व्यवहार बड़ा शिष्ट था, उसकी वाणी में संगीत का सा माधुर्य था। वह चतुर चितेरे की चित्र की तरह मनोहर, कुशल शिल्पी की कृति की तरह त्रुटि रहित, और सुकवि की कल्पना की तरह सुन्दर थी। वसंत के जीवन में किसी युवती बालिका से बातचीत करने का यह पहला ही अवसर था। उसने कुसुम की ओर एक बार देखा फिर उसकी आँखें ऊपर न उठ सकीं। कुसुम ने चाँदी के-से सुन्दर प्यालों में चाय बना कर टेबिल पर रखी। तश्तरियों में जलपान के लिए फल और मिठाइयां सजा दीं। वसंत स्वभाव से ही शिष्ट था। किन्तु आज वह साधारण शिष्टाचार की बातें करना भी भूल गया और उसने चुपचाप चा पीना शुरू कर दिया। कुसुम यदि कोई बात पूछ बैठती तो वसंत का चेहरा अकारण ही लाल हो जाता। और उसका हृदय इस प्रकार धड़कने लगता जैसे वह किसी कठिन परीक्षक के सामने बैठा हो। चाय पीते-पीते

भी उसका गला सूखा जाता था और सिवा 'हाँ' या 'न' के वह कुछ बोल न सकता था।

इन्टर-युनिवर्सिटी-डिबेट में जा कर बनारस से अपने कालेज के लिए 'शील्ड' जीत लाना बसन्त के लिए उतना कठिन न था जितना आज उसे साधारण बातचीत करना कठिन मालूम हो रहा था। वह अपनी दशा पर स्वयं हैरान था और उसे अपने अचानक मौन पर आश्चर्य हो रहा था।

केशव के आग्रह से जब कुसुम ने सितार पर यमन कल्याण बजा कर सुनाया तो वसंत ने कहा—"आप तो संगीत में भी बडी प्रवीण हैं।" यह सुन कर कुसुम ने ज़रा हँस कर कहा आप तो मुझे बनाते हैं, अभी तो मुझे अच्छी तरह बजाना भी नहीं आता, यह सुन कर बसन्त को अपना वाक्य, मूर्खता पूर्ण जँचने लगा, और उसे अपनी उक्ति में केवल व्यंग का ही आभास मालूम पडा।

वसंत बहुत देर बाद बोला था और बोलने के बाद अपने को धिक्कार रहा था।

[३]

वसंत जब वापिस आया तो उसे कुछ याद आ रहा था कि जैसे कुसुम ने चलते समय उससे कभी कभी आते रहने का अनुरोध किया था। किन्तु वह अकेला कुसुम के घर न जा सका और एक दिन फिर केशव के ही साथ गया। इसी प्रकार वसंत जब कई बार कुसुम के घर गया तो कुसुम ने देखा कि वसंत भी बातचीत कर सकता है। उसकी विद्वत्ता और योग्यता पर तो कुसुम पहले ही से मुग्ध थी अब उसकी मर्यादित सीमा के अन्दर ही बातचीत और व्यवहारिक ज्ञान को देखकर कुसुम की श्रद्धा और भी बढ़ गई। अन्य नवयुवकों

की तरह वसंत में उच्छृंखलता और उद्दंडता न थी, उसकी बातचीत हँसी मज़ाक सब सीमा के बाहर कभी न जाते थे। कुसुम ने वसंत से अंगरेज़ी पढ़ाने के लिए आग्रह किया जिसे वसन्त ने स्वीकार कर लिया। और इस प्रकार धीरे-धीरे कुसुम और वसन्त की घनिष्टता बढ़ने लगी। कुसुम से मिलने के पहले वसन्त ने जो उसके विषय में धारणा बना रखी थी कि धनवान पिता की अकेली कन्या ज़रूर ही उद्धत स्वभाव की होगी वह निर्मूल हो गई। अब उसे कुसुम के पास जाने की सदा इच्छा बनी रहती थी, सबेरे से ही वह शाम होने की बाट देखा करता। अपनी दशा पर उसे स्वयं आश्चर्य था।

कुसुम मैट्रिक पास हो गई और वसंत बी० ए०। किन्तु दोनों ही ने आगे पढ़ना जारी रखा। वसंत अब भी कभी कभी कुसुम के घर आया करता था।

[४]

एक दिन वसंत ने सुना कि कुसुम का विवाह मई के महीने में होने वाला है। वसंत समझ न सका कि यह सुन कर उसका चित्त अव्यवस्थित सा क्यों हो गया। उसने कभी स्वप्न में भी न सोचा था कि कुसुम के साथ उसका भी कोई ऐसा सम्बन्ध हो सकता है। अपनी और कुसुम की आर्थिक स्थिति में ज़मीन आसमान का अन्तर वह देखा करता था। और कभी इस प्रकार की असंभव कल्पना को न लाने के लिए उसे अपने ऊपर विश्वास था। कुसुम,-उसके लिए आकाश-कुसुम थी। उसे छूने तक की कल्पना बेचारा वसन्त कैसे करता? अदरक के व्यापारी को जहाज़ की ख़बर से क्या मतलब" और यदि जहाज़ ।की ख़बर सुन कर उसे सुख-दुख हो तो आश्चर्य की बात ही है। वसन्त यही

सोच रहा था। वसन्त कुसुम से दूर, दूर रहने की सोचने लगा किन्तु ज्योंही शाम हुई वह अपनेआप को रोक न सका, निकला तो वह टहलने, लेकिन टहलता हुआ कुसुम के घर जा पहुँचा।

जब वह कुसुम के घर पहुँचा तो कुसुम वहाँ न थी वह ड्राइंग-रूम में बैठ कर एक एलबम के पन्ने उलटने लगा। उसकी दृष्टि एक चित्र पर जाकर एकाएक रुक गई। वह बड़ी देर तक उस चित्र को ध्यान पूर्वक देखता रहा। उसका सिर चित्र के ऊपर झुक गया और साथ ही आँसू की दो बड़ी बड़ी बूँदें गिर पड़ीं। वसन्त जैसे सोते से जाग पड़ा हो। उसने झट से जेब से रूमाल निकाल कर चित्र पर की आँसू की बूँदें पोंछ दी। और उसी समय उस की नजर सामने लगे हुए बड़े आइने पर पड़ी, कुसुम उसके पीछे चुपचाप खड़ी थी, उसकी आँखें सजल थीं। वसन्त कुछ घबरा सा गया, कुसुम पास की एक कुरसी खींच कर बैठ गई। थोड़ी देर तक दोनों ही चुप चाप रहे, आखिर कुसुम ने ही कुछ देर के बाद निस्तब्धता को भंग करते हुए कहा-"वसन्त बाबू, अब तो बहुत देरी हो चुकी है।" वसन्त ने कहा, "जो कुछ हुआ ठीक ही हुआ है।" इसके बाद मिल्टन की एक पोयम की कुछ पंक्तियाँ जो कुसुम न समझ सकती थी वसन्त ने उसे समझाई। वसन्त अपने घर गया और कुसुम अपने पिता के साथ हवाख़ोरी के लिए।

[५]

गर्मी की छुट्टी में वसन्त को एक लाल लिफ़ाफ़े में कुसुम की शादी का निमंत्रण-पत्र मिला, और कुछ दिन बाद उसने यह सुना कि कुसुम का विवाह एक धनीमानी ज़िमीं-

दार के यहाँ सकुशल होगया। कुसुम का पढ़ना-लिखना बन्द होगया और साथ ही बन्द होगया वसन्त का उसके यहाँ का आना जाना। वसन्त को अब मालूम हुआ कि उसका हृदय उससे छिप छिप कर कुसुम को कितना चाहने लगा था, कुसुम को अपनाने की लालसा भी उसके हृदय में दबी हुई थी। अपने हृदय के इस विश्लेषण पर वसन्त को आश्चर्य हुआ। इन इच्छाओं ने कब उसके हृदय में प्रवेश किया था वसंत निर्धारित न कर सका। कब यह भावना उसके हृदय में आई ऐसा उसे स्पष्टभाव से स्मरण नहीं आया। उसे अपने ऊपर और अपनी बुद्धि पर विश्वास था। किंतु हृदय बुद्धि और तर्क को धोखा देकर, मनुष्य को किस प्रकार असम्भव कल्पना की ओर प्रेरित कर सकता है, वसन्त ने आज जाना। उसने सोचा यदि मैं सचमुच कुसुम को प्यार करता था तो मैंने कुसुम से यह कहा क्यों नहीं? यदि उसे अपनाने की इच्छा मेरे हृदय में थी तो उसे मैंने कभी प्रकट क्यों नहीं की? वह अपने प्रश्नों पर आप ही निरुत्तर हो जाता था।

फिर उसने बार बार यही सोचा कि उसने सदा से ही कुसुम को प्यार किया है और हृदय से प्यार किया है। तब, क्या कुसुम भी उसे प्यार करती थी? शायद 'हाँ" या "नहीं," वसन्त कुछ निश्चय न कर सका। किन्तु तर्क की शुष्क विवेचना में उस दिन की कुसुम की सजल आँखें डूबते हुए को तिनके के सहारे की तरह वसन्त को मालूम हुई।

वसन्त एम० ए० पास करने पर लाहौर कालेज में प्रोफ़ेसर हो गया और साधारण स्थिति में अपने दिन काटने लगा। उसे प्रोफ़ेसरी करते करते चार साल हो गये किन्तु

उसके जीवन में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। उसके मामा ने उसके विवाह के लिए दो चार बार कहा भी किन्तु वसन्त ने टाल दिया। माता पिता तो थे ही नहीं जो उसे बार बार विवाह के लिए बाध्य करते। मित्रों ने भी यदि कभी वसंत से इसकी चर्चा की तो वसन्त ने बात सदा हँसी में उड़ा दी। अपनी इस लापरवाही का कारण वह खुद न समझ सकता था। विवाह न करने की उसने कोई प्रतिज्ञा तो न कर रक्खी थी किन्तु फिर भी न जाने क्यों उसका चित्त अव्यवस्थित था, विवाह की ओर उसका झुकाव नहीं सा था।

इन चार वर्षों में वसन्त एक बार भी इलाहबाद नहीं गया, बार बार इच्छा होते हुए भी वह वहाँ न जा सका। उसके मामा की बदली लखनऊ की होगई थी। अब वह इलाहाबाद जाता भी तो किसके यहाँ ?

[६]

अपने क्लास के विद्यार्थियों को टाटानगर के कारख़ाने को दिखला कर जब वसन्त लौट रहा था तो उसे इलाहाबाद स्टेशन पर से जाना पड़ा। यहाँ एक दिन रुकने के प्रलोभन को वह न रोक सका, सामान स्टेशन पर छोड़ कर पहिले वह अपने पुराने साथियों से मिलने गया किन्तु एक दो को छोड़कर उसे और कोई न मिला। फिर वह जार्जटाउन की ओर गया, और उसके पैर अपने ही आप कुसुम के घर के पास जाकर ठिठक गये। दरवाजे पर वही पुराना चौकीदार बैठा हुआ हाथ पर तमाखू मल रहा था। वसन्त को देखते ही वह उठ कर खड़ा होगया; बोला—"बहुत दिन में आये भैय्या?" और बिना वसन्त के कहे ही अन्दर ख़बर देने के लिए चला

गया। वसन्त जाकर उसी ड्राइंगरूम में बैठ गया जहाँ वह बहुत बार कुसुम के शिक्षक के रूप में बैठ चुका था। इन चार वर्षों में कुसुम और वसन्त के बीच किसी प्रकार का कोई पत्र व्यवहार नहीं हुआ था और न उन्हें एक दूसरे के विषय में कुछ मालूम था। वसन्त सोच रहा था कि इतने दिनों के बाद कुसुम न जाने किस भाव से मिलती है, कैसा स्वागत करती है, उसका आना उसे अच्छा भी लगता है कि नहीं कौन जाने? इतने ही में एक सफ़ेद, बिना किनारी की, खादी की साड़ी पहिने कुसुम ने ड्राइंगरूम में प्रवेश किया। वसंत ने बड़े ही नम्र भाव से उठकर अभिवादन किया। "क्यों क्या कुसुम को इतनी जल्दी भूल गये जो अपरिचित की तरह शिष्टाचार करते हो, वसन्त बाबू?" कुसुम ने हल्की मुस्कुराहट के साथ कहा। वसन्त का ध्यान इस ओर न था, वह चकित दृष्टि से कुसुम के सादे पहिनावे को देख रहा था। सौभाग्य के कोई चिह्न न थे। न तो हाथ में चूड़ी और न माथे पर सिन्दूर की बिन्दी। विधाता! तो क्या कुसुम विधवा होचुकी है? किन्तु वसंत का हृदय इस बात को मानने के लिए तैय्यार ही न होता था।

"क्या सोच रहे हो वसन्त बाबू?" कुसुम ने फिर पूछा। वसंत जैसे चौंक पड़ा, बोला—"कुछ तो नहीं वैसे ही मैं देख रहा था कि..................

कुसुम ने बात काट कर कहा—"आप मेरी तरफ़ देख रहे होंगे किन्तु इसके लिए क्या किया जाय, विधि के विधान को कौन टाल सकता है?"

वसन्त को मालूम हुआ कि विवाह के दो ही वर्ष बाद कुसुम विधवा हो गई। उसके पिता भी उसे अटूट सम्पत्ति

की अधिकारिणी बना कर छ महीने हुए परलोकगामी हुए। वसन्त ने देखा कि विपत्तियों ने कुसुम को ज्ञान में उससे भी अधिक प्रौढ़ बना दिया है। कुसुम उमर में वसन्त से कुछ साल छोटी ही थी किन्तु वसन्त अभी संसार-सागर के इसी तट पर था और कुसुम? कुसुम, लहरों के थपेड़े में आकर उस पार-वसन्त से बहुत दूर, पहुँच गई थी। वसन्त के जीवन में आशा थी और कुसुम का जीवन निराशा से पूर्ण था। निराशा की अन्तिम सीमा शांति है। कुसुम उसी शान्ति का अनुभव कर रही थी।

उस दिन वसन्त फिर लौट कर वापिस न जा सका। कुसुम के अनुरोध से वह दो दिन तक कुसुम का मेहमान रहा। दोनों ने परस्पर एक दूसरे के विषय में इतने दिनों का हालचाल जाना। पत्र न लिखने की शिकायत न तो कुसुम को थी और न वसन्त को। चलते समय कुसुम ने वसन्त से आग्रह किया कि यदि कभी किसी काम से उन्हें इस ओर आना हो तो वह इलाहाबाद में ज़रूर ठहरें। कुसुम वसन्त का हृदय उसकी आँखों में देख रही थी—उसे विश्वास था कि वसन्त ज़रूर आवेगा।

[७]

वसंत का स्वास्थ्य दिनों दिन बिगड़ता ही गया। कोई ख़ास बीमारी तो न थी, केवल आठ दस दिन तक मलेरिया ज्वर से पीड़ित रहने के बाद वह कमजोर होता गया। छुट्टी में जलवायु परिवर्तन के लिए वसंत मसूरी गया। प्रकृति के सुन्दर दृश्य, यात्रियों की चहल पहल, बिजली की रोशनी, किसी भी बात से वसंत के चित्त को शान्ति न मिल सकी, वह सदा गम्भीर और उदास रहा करता। कुसुम को वह जो

से प्यार करता था। वसंत का स्वभाव और चरित्र अत्यंत उज्ज्वल और ऊंचा था, फिर भी जब वह सोचता कि कुसुम के विवाह के समय, उसके सुख के समय, उसकी आँखों में आंसू आये थे और कुसुम के विधवा होने पर उसके हृदय में आशा का संचार हुआ है, तब वह अपने विचारों पर स्वयं लज्जित होता और अपने को नीच समझ कर धिक्कारता।

वसंत बहुत दिनों तक मसूरी में न रह सका, देहरादून एक्सप्रेस से वह एक दिन इलाहाबाद जा पहुँचा। कुसुम के सद्व्यवहार से उसे कुछ शान्ति मिली। कई दिनों से वसंत कुसुम से कुछ कहना चाहता था; किन्तु कहते समय उसे ऐसा मालूम होता जैसे कोई आकर उसकी ज़बान पकड़ लेता हो—वह कुछ न कह सकता था। एक दिन बगीचे में कुसुम वसंत के साथ टहल रही थी, दोनों ही चुप चाप थे, वसंत ने निस्तब्धता भंग की, उसने पूछा—"कुसुम! क्या तुम अपना सारा जीवन इसी प्रकार, तपस्विनी की तरह बितादोगी?"

"क्या करूँ,ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है" कुसुम ने शांति से उत्तर दिया। "किन्तु इस तपश्चर्या को सुख में परिवर्तित करने का क्या कोई मार्ग नहीं है?" वसंत ने पूछा।

"क्या मार्ग हो सकता है वसंत तुम्हीं कहो न? मेरी समझ में तो नहीं आता?"

वसंत ने धड़कते हुए हृदय से कहा—"पुनर्विवाह जैसा कि तुम्हारी सखी मालती ने भी किया है।"

कुसुम को एक धक्का सा लगा। उसका चेहरा लाल होगया। उसने दृढ़ता से कहा—"लेकिन वसंत बाबू मुझसे तो यह कभी न हो सकेगा।"

वसंत चुप हो गया। वह रह रह कर अपनी गलती पर पछता रहा था। वसंत ने साहस करके इस नाज़ुक विषय को छेड़ तो ज़रूर दिया था किन्तु वह डर रहा था कि कहीं कुसुम की नज़र से वह नीचे न गिर जाय। दोनों चुप थे। दोनों के दिमाग में एक प्रकार का तूफ़ान सा उठ रहा था। टहलते टहलते कुसुम जैसे थक कर एक संगमरमर की बेंच पर बैठ गई। उसने वसंत से भी बैठ जाने का इशारा किया। उसने कहा—"वसंत मैं तुम्हें कितना चाहती हूँ शायद तुम इसे अभी तक अच्छी तरह नहीं जान पाये हो?" वसंत के हृदय में फिर आशा चमक उठी, वह ध्यानपूर्वक उत्सुकता के साथ कुसुम की बात सुनने लगा।

कुसुम ने कहा—"तुम भी मुझे पहले से चाहते थे यह बात मुझ से छिपी न रह सकी, उस दिन ड्राइंगरूम में अपनेआप ही प्रकट हो गई, लेकिन वह प्रकट हुई बहुत देर के बाद, जब उसके लिए कोई उपाय शेष न था। उसके बाद वसंत, इन लम्बे चार वर्षों की अवधि में भी मैं तुम्हें भूल नहीं सकी हूँ, जैसा कि तुम देख रहे हो।" वसंत का हृदय ज़ोर से धड़क रहा था। कुसुम ने फिर कहा—"इतना सब होते हुए भी, वसंत! मैंने निश्चय किया है कि मैं कभी पुनर्विवाह न करूँगी, अपने माता-पिता और अपने स्वामी की स्मृति में कलंक न लगाऊंगी, तुम्हारी और मेरा शुद्ध प्रेम है, उसमें वासना और स्वार्थ की गन्ध नहीं है।" वसंत हताश हो गया। कुसुम ने फिर कहा—"कहानियों की तरह क्या प्रेम का अन्त विवाह में ही होना चाहिए, वसंत?" वसंत कोई उत्तर न देसका। उसने देखा कुसुम प्रेम की दौड़ में भी उससे बहुत आगे निकल गई है। वसंत अपने को स्वार्थी,

और ओछे हृदय का समझने लगा। उसे ऐसा मालूम हुआ कि कुसुम बहुत ऊंचे से—किसी दूसरे लोक से—बोल रही है जिसे वसंत कुछ समझ सकता है और कुछ नहीं।

इसके बाद वसंत और कुसुम के बीच में इस विषय में फिर कभी कोई बात न हुई। किन्तु; वसंत अब भी समझता है कि कुसुम का तर्क सत्य नहीं है, किसी सुकवि की कल्पना की तरह वह सुन्दर ज़रूर है, पर उसमें सचाई नहीं है। परन्तु इस प्रकार के विचार आने पर वह स्वयं अपनी आँखों से नीचे गिरने लगता है, उसके कानों में बार-बार कुसुम के यह शब्द गूंजने लगते हैं—"क्या प्रेम का अन्त कहानियों की तरह विवाह में ही होना आवश्यक है?"

———

[३]

अभियुक्ता

अभियुक्ता

[१]

मजिस्ट्रेट मिस्टर मिश्राकी अदालतमें एक बड़ा ही सनसनीदार मुकद्दमा चल रहा है। अदालतमें खूब भीड़ रहती है। मामला एक बीस बरसकी युवतीका है, जिसपर बैरिस्टर गुप्ताके लड़के के गले से सोनेकी जंजीर चुरानेका अपराध लगाया गया है। एक तो वैसे ही, किसी स्त्रीके अदालतमें आते ही न जाने कहाँसे अदालतके आस-पास मनुष्योंकी भीड़ लग जाती है, और यदि कहीं स्त्री सुन्दर हुई, फिर तो भीड़के विषयमें कहना ही क्या है? आदमी इस तरह टूटते हैं जैसे उन्होंने कभी कोई स्त्री देखी ही न हो। इसके अतिरिक्त मजेदार बात यह भी थी कि बैरिस्टर गुप्ता स्वयं इस मामले में गवाही देने के लिए अदालत में आये थे।

वैरिस्टर गुप्ता शहरके मशहूर वैरिस्टर हैं। शहरका बच्चा-बच्चा उन्हें जानता है। सरकारी अफसर उनके घर जुआ खेलते हैं; शहरमें कहीं नाच-गाना हो तो उसका प्रवन्ध वैरिस्टर साहब को ही सौंपा जाता है। शराब पीनेका शौक होते हुए भी वह कलवारी में कभी नहीं जाते, कलारी स्वयं उनके घर पहुच जाती है। सरकार-दरबार में उनका बहुत मान है, और पब्लिक में भी; क्योंकि सरकारी अफसरोंसे किसका काम नहीं पड़ता! वैरिस्टर साहब हैं भी बड़े मिलनसार। पब्लिक का काम बडी दिलचस्पी से करते हैं। इस प्रकार के कामों में यह बहुत व्यस्त रहते हैं, और दूसरे कामों के लिए उन्हें फुरसत ही ही नहीं रहती।

मुकदमा शुरू हुआ। अभियुक्ता की ओर से कोई वकील न था। वह गरीब और असहाय थी। सरकार की ओर से ३००) मासिक पाने वाले कोई साहब पैरवी के लिए खडे थे।

वैरिस्टर गुप्ताने अपने बयानमें कहा—"मैं अभियुक्ता को एक अरसेसे जानता हूं। यह शहरमें भीख मांगा करती थी। करीब एक महीना हुआ, एक दिन मैंने अपने मकानके पास कुछ गुण्डोंको इसे छेड़ते देखा। मुझे इसपर दया आयी। उन गुण्डोंको भगाकर मैं इसे अपने घर ले आया और जब मुझे मालूम हुआ कि इसका कोई भी नहीं है, तब खाने और कपडे-पर इसे अपने घरपर बच्चोंको संभालनेके लिए रख लिया। पन्द्रह दिन काम करनेके बाद एक दिन रातको यह यकायक गायब हो गयी। दूसरे दिन मैंने देखा कि बच्चेके गलेकी सोनेकी जञ्जीर भी नहीं है; तब मैंने पुलिसमें इत्तिला दी। बादमें

पुलिसने इसे मय सोनेकी चेनके गिरफ्तार किया, और मुझसे चेनकी शिनाख्त करवायी। मैंने वैसी ही पाँच चेनोंमेंसे अपनी चेन पहचान ली। (अदालतकी टेबिलपर रखी हुई चेनको हाथमें लेकर वैरिस्टर गुप्ताने कहा) यह चेन मेरी है, मैंने खुद इसे बनवाई थी।"

वैरिस्टर गुप्ताका बयान खतम हुआ। मजिस्ट्रेटने गम्भीर स्वरमें अभियुक्ताकी ओर देखकर पूछा—"तुमको वैरिस्टर साहबसे कुछ सवाल करना है?"

अभियुक्ताका चेहरा तमतमा उठा। वह तिरस्कार-सूचक स्वरमें बोली—"जी नहीं; सवाल पूछना तो दूरकी बात है, मैं तो इनका मुँह भी नहीं देखना चाहती।"

अभियुक्ताकी इस निर्भीकतासे दर्शकोंके ऊपर आश्चर्य की लहर-सी दौड़ गयी। सबकी आँखें उसकी ओर फिर गयीं; वैरिस्टर गुप्ताकी ओर भी लोगोंका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित हुआ। उनके मुँहसे एक प्रकारकी दबी हुई अस्पष्ट मर्-मर ध्वनि-सी निकल पड़ी।

मुकदमेमें और भी रङ्ग आगया। अब तो लोग अधिक ध्यान से मुकदमे की काररवाई को सुनने लगे।

वैरिस्टर गुप्ता की बातों का समर्थन पुलिस के दूसरे गवाहों ने भी किया। एक सराफ ने आकर कहा-"मेरी दूकान से सोना लेकर वैरिस्टर साहब ने मेरे सामने ही यह चेन सुनार को बनाने के लिए दी थी।"

एक सुनार ने आकर बयान दिया—"यह चेन वैरिस्टर साहब के लिए मैंने ही अपने हाथ से बनाकर उन्हें दी थी।"

तफतीश करने वाले थानेदार ने बतलाया कि किस प्रकार उन्होंने अभियुक्ता का पता लगाया, और किस तरह चेन मांगते ही उसने यह चेन अपनी कमर से निकाल कर देदी। थानेदार ने यह भी कहा कि अभियुक्ता इस चेन को अपनी मांकी दी हुई बतलाती है, जिससे साफ मालूम होता है कि अभियुक्ता बहुत चालाक है।

सरकारी गवाहों के बयान होजाने के बाद अभियुक्ता से मजिस्ट्रेट ने पूछना शुरू किया—

"तुम्हारा नाम ?"

"चुन्नी।"

"पति का काम ?"

"मैं कुमारी हूं।

"अच्छा तो पिता का नाम ?"

"मैं नहीं जानती। मैं जब बहुत छोटी थी तब या तो मेरे पिता मर गये थे या कहीं चले गये थे। मैंने उन्हें देखा ही नहीं। मेरी मांने मुझे कभी उनका नाम भी नहीं बतलाया; और अब तो कुछ दिन हुए मेरी मांका भी देहान्त हो गया।"

कहते कहते अभियुक्ता की आँखें डबडबा आयीं। दोनों हाथोंसे अपना मुंह ढँककर वह सिसकियां लेने लगी। दर्शकों ने सहानुभूतिपूर्वक अभियुक्ता की ओर देखा; किन्तु कोर्ट इन्सपेक्टर ने कड़े स्वरमें कहा—"यह नाटक यहां मत करो; जो कुछ साहब पूछते हैं उसका जवाब दो।"

अभियुक्ताने अपने को सँभाला और आँखें पोंछकर मजिस्ट्रेट की ओर देखने लगी।

मजिस्ट्रेट ने फिर पूछा—तुम्हारा पेशा क्या है?

"मैं मजदूरी करती हूं और जब काम नहीं मिलता तब भीख मांगती हूं"—अभियुक्ता ने कहा।

मजिस्ट्रेट ने प्रश्न किया—"रहती कहाँ हो?"

"जहां जगह मिलजाती है।"

"तुमने वैरिस्टर गुप्ता के घर नौकरी की थी?"

"जी हां।"

"यह चेन तुमने उनके बच्चे के गले से चुराई?"—चेन को हाथ में लेकर मजिस्ट्रेट ने पूछा।

अभियुक्ता ने वैरिस्टर गुप्ता की ओर देखा। उसकी इस दृष्टि से घृणा और क्रोध टपक रहे थे। फिर उसने मजिस्ट्रेट की ओर देख कर दृढ़ता से कहा—"मैंने जञ्जीर चुरायी नहीं; वह मेरी ही है।"

यह सुनते ही वरिस्टर गुप्ता के मुंह से व्यङ्ग पूर्ण उपहास की हलकी हंसी निकल गयी। इस व्यङ्ग से अभियुक्ता का चेहरा क्षोभ से और भी लाल हो उठा। उसने किञ्चित क्रोध के स्वर में कहा—"मैं फिर कहती हूँ कि जञ्जीर मेरी है। मेरी मांने मरते समय यह मुझे दी थी और कहा था कि यह तेरे पिता की यादगार है, इसे सम्हाल के रखना।"

मजिस्ट्रेटने पूछा—"तुम वैरिस्टर साहब के घर से रात को भाग गयी थीं?"

कुछ क्षणके लिए अभियुक्ता चुप-सी हो गयी। आहत अपमान उसके चेहरे पर तड़प उठा। फिर कुछ सोचकर वह

गम्भीर स्वरमें बोली—"जी हां, मैं बैरिस्टर साहबके घरसे भागी। पहले जब इन्होंने मुझे गुण्डोंसे बचाकर अपने घरमें आश्रय दिया था, तब मेरे हृदयमें इनके लिए श्रद्धा और कृतज्ञताके भाव थे। परन्तु वे धीरे-धीरे घृणा और तिरस्कार में बदल गये। मैंने देखा कि बैरिस्टर साहबकी खुदकी नीयत ठिकाने नहीं है। वह मुझे अपनी वासना का शिकार बनाने पर तुले हुए हैं। धीरे धीरे वह मुझे हर तरहकी लालच दिखाने लगे और धमकियां देने लगे। एक दिन इसी तरहकी छीना-झपटीमें उन्होंने मेरी यह सोनेकी जञ्जीर देख ली थी। इसीलिए चोरी का झूठा इलजाम लगानेका इन्हें मौका मिला। मैं चोरीके डरके मारे कभी जञ्जीरको गलेमें नहीं पहनती थी। सदा कमरमें खोंसे रहती थी।"

अभियुक्ता का बयान सुनते ही अदालत में सन्नाटा छा गया। किसी को भी उसके बयान में किसी तरह की बनावट न मालूम हुई। बैरिस्टर साहब के प्रति घृणा और अभियुक्ता की ओर सहानुभूति के भावों से दर्शक समाज का हृदय ओत-प्रोत हो गया। सभी दिल से चाहने लगे कि वह छूट जावे। परन्तु कानूनी कठिनाइयों को सोचकर सब निराश-से हो गये। चेन उसकी होते हुए भी भला बेचारी इस बात का सबूत कहाँ से देगी कि चेन उसीकी है!

[२]

सफाई की पेशीका दिन आया। आज तो अदालतमें दर्शकोंकी भीड़ के कारण तिलभर भी जगह खाली न थी। प्रत्येकके चेहरेपर उत्सुकता छायी थी। कौन जाने क्या होता है! "कहीं बिचारीकी चेन भी छिने, और जेल भी

भेजी जाय। "यह न्यायालय तो केवल न्याय के ढोंग के लिए ही होते हैं;" "न्यायके नामसे सरासर अन्याय होता है;" "अदालतें धनवानोंकी ही हैं, गरीबोंकी नहीं;" इस प्रकार की अनेक आलोचनाएं कानाफूसी के रूप में दर्शकों के मुंह से निकल रही थीं। अन्त में मजिस्ट्रेट की आवाज से अदालत में निस्तब्धता छा गयी। उन्होंने अभियुक्ता से पूछा—

"क्या तुम इस बात का सबूत दे सकती हो कि यह चेन तुम्हारी है?"

"जी हां।"

"क्या सबूत है? तुम्हारे कोई गवाह हैं?"

"मेरा सबूत और गवाह यही चेन है,"—अभियुक्ताने चेन की ओर इशारा करते हुए कहा।

सबने संदेह-सूचक सिर हिलाया। कुछ ने सोचा शायद यह लड़की पागल होगयी है।

मजिस्ट्रेट ने पूछा—"वह कैसे?" अब उनकी दिलचस्पी और बढ़गयी थी।

"चेन मेरे हाथ में दीजिये, मैं आप को बतला दूंगी।" मजिस्ट्रेट के इशारे से कोर्ट साहब ने चेन उठा कर अभियुक्ता के हाथ में देदी। चेन दो-लड़ी थी और उसके बीच में एक हृदय के आकार का छोटा-सा लाकेट लगा था, जो ऊपर से देखने में ठोस मालूम पडता था; परन्तु अभियुक्ता ने उसे इस तरह दबाया कि वह खुल गया। उसे खोलकर उसने मजिस्ट्रेट साहब को दिखलाया, फिर बोली—

"यही मेरा सबूत है, यह मेरे पिता की तसवीर है।"

मजिस्ट्रेट ने उत्सुकता से वह लाकेट अपने हाथमें लेकर देखा—देखा, और देखते ही रह गए। लाकेट के अन्दर एक २० वर्ष के युवकका फोटो था। मजिस्ट्रेट ने उसे देखा उनकी दृष्टि के सामने से अतीतका एक धुंधलासा चित्रपट फिर गया।

बीस वर्ष पहले वह कालेज में बी० ए० फाइनल में पढ़ते थे। उनके मेस की महराजिन बुढ़िया थी, इसलिए कभी-कभी उनकी नातिन भी रोटी बनाने आ आया करती थी। उसका बनाया हुआ भोजन बहुत मधुर होता था। वह थी भी बड़ी हंसमुख और भोली। धीरे-धीरे वह उसे अच्छी अच्छी चीजें देने लगे। छिप छिपकर मिलना-जुलना भी प्रारंभ हुआ। वह रात के समय बुढ़िया महराजिन और उसकी नातिन को उसके घर तक पहुँचाने भी जाने लगे। एक रात को वह लड़की अकेली थी। चाँदनी रात थी और बसन्ती हवा भी चल रही थी। घने वृक्षों के नीचे अन्धकार और चाँदनी के टुकड़े आँख-मिचौनी खेल रहे थे। वहीं कहीं एकान्त स्थानमें।उन्होंने अपने आपको खो दिया।

कालेज बन्द हुआ, और विदाई का समय आया। उस रोती हुई प्रेयसी को उन्होंने एक सोने की चेन मय फोटोवाले लाकेटके अपनी यादगार में दी। सिसकियों और हृदय-स्पन्दन-के साथ बड़ी कठिनाईसे वह विदा हुए। वह उनका अन्तिम मिलन था। उसके बाद वह उस कालेजमें पढ़नेके लिए नहीं गये, क्योंकि वहाँ ला क्लास नहीं था। वह धीरे-धीरे उन सब बातोंको स्वप्नकी तरह भूल गये। किन्तु, आज इस लाकेटने उनके उस प्रणयके परिणामको उनके सामने प्रत्यक्ष लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने सोचा "तो

क्या यह मेरी ही"………इतनेमें लाकेट उनके हाथसे छूटकर टेबिलपर खटसे गिर पड़ा; उसकी आवाजसे वह चौंक-से पड़े। दर्शक भी चौंक उठे। मजिस्ट्रेटने सिर नीचा किये हुए कहा"— अभियुक्त निर्दोष है; उसे जाने दो।" यह कहते हुए वह तुरन्त उठकर खड़े हो गये। जैसे न्यायाधीशकी कुर्सीने उन्हें काट खाया हो।

[४]

सोने की कण्ठी

सोने की कण्ठी ?

[१]

विन्दो पोस्टमैन की लड़की थी। उसका पिता रायसाहब निमूर्लचन्द की कोठी के सागरपेशे की एक कोठरी में किराये से रहता था। पोस्टमैन की आमदनी ही कितनी ? खर्च सदा ही आमदनी से कुछ ज्यादा हो जाया करता था; इसलिए विन्दो और उसकी मां को अच्छे गहने और कपड़े कभी नसीब न हुए। विन्दो रूपवती थी और उसको अच्छे-अच्छे गहने-कपड़ों का शौक था। स्त्रियां स्वभावतः सौंदर्य की उपासिका होती हैं, जो जितनी अधिक सुन्दर होती है उसकी सौंदर्योपासना उतनी ही अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है। किन्तु सुन्दरी विन्दो गहनों और कपड़ों के लिए तरसा करती थी। रायसाहब की

स्वजातीय होने के कारण कभी कभी तिथि-त्योहार या काम-काज होने पर कोठी से बिन्दो की मां के लिए बुलावा आता और मां के साथ बिन्दो भी जाया करती। वहां रायसाहब की लडकियों को खूब सजीवजी देखकर, उनके चमकते हुए हीरे-मोती के गहने और दृष्टि को फिसला देने वाले रेशमी कपडों को देखते ही वह और अधिक क्षुब्ध हो जाया करती, विशेष कर इसलिए और भी, कि राय-साहब की लड़कियां सुन्दर न थीं; गहने-कपडे उनके शरीर पर ऐसे जान पडते जैसे वे किसी ठूठ के साथ लपेट दिये गये हों। बिन्दो की राय थी कि अच्छे कपडे और गहने पहिनने का अधिकार उन्हीं को होना चाहिये जो सुन्दर हों। कुरूप स्त्रियों का श्रृंगार तो श्रृंगार का उपहास और कला का अनादर है। रायसाहब की लडकियों से गहने-कपडे की प्रतियोगिता में हारकर बिन्दो हताश न होती; घर लौटते ही वह शीशे में अपना सुन्दर मुंह देख कर मन ही मन उनके प्रति कहती-"गहना-कपड़ा पहिन कर भी तो उनका काला मुँह गोरा नहीं हो जाता; बडे बड़े दांत मोतियों सरीखे नहीं चमकते"। फिर यकायक वह दीर्घ निश्वास के साथ शीशे के सामने से दूर चली जाती; मानो वह सोचती कि विश्व के सारे सौंदर्य की वस्तुएं केवल उसी के लिए बनाई गई थीं; किन्तु निर्माता की भूल से वह उनसे दूर रखदी गई है। रायसाहब की लडकियों के पास तो वे सौन्दर्यवर्धक वस्तुएं अनावश्यक ही हैं, जिनसे उन लडकियों के सौंदर्य की वृद्धि तो नहीं हो पाती, हां उन वस्तुओं का सौंदर्य अवश्य घट जाता है।

परन्तु बिन्दो को एक आशा थी। वह सोचती थी

कि विवाह के बाद मुझे भी बहुत से गहने और कपड़े मिलेंगे, जैसे दूसरी विवाहिता लड़कियों को मिला करते हैं। उनके समान मैं भी अपने घर की मालकिन बनूंगी। मेरे 'वे' भी बहुत सा रुपया लाकर मेरे हाथों पर रख दिया करेंगे और तब मैं भी मनमाना खर्च करूंगी। बाजार में कोई अच्छा कपड़ा या गहना देखते ही 'वे' भी मेरे लिए खरीद लावेंगे और मैं उसे उसी अभिमान से पहिनूंगी जैसे ये पहिनती हैं। किसी के पूछने पर मैं भी जरा संकोच और सलज्ज भाव से कह दूंगी कि यह गहना या कपड़ा तो खुद वे ही अपनी पसंद से मेरे लिए खरीद लाए हैं। उसे विश्वास था कि जब विधाता ने उसे सुन्दरता देने में इतनी उदारता की है तब यह गहने-कपड़े की इच्छा भी एक न एक दिन अवश्य पूरी होगी। वह उस दिन की प्रतीक्षा बड़ी लगन से किया करती।

[२]

धीरे-धीरे बिन्दो सयानी हुई और उसका विवाह भी हो गया। किन्तु निर्धन की बेटी भला धनवान के घर कैसे व्याही जाती? मित्रता-वैर और विवाह-सगाई तो अपने बराबरी वालों में ही शोभा देते हैं। तात्पर्य यह कि बिन्दो के गहने-कपड़ों की प्यास ज्यों की त्यों बनी रही। विवाह के समय कुछ गहने और कपड़े आए अवश्य थे; किन्तु ससुराल पहुँचने के बाद ही वे एक एक करके किसी न किसी बहाने बिन्दो से ले लिए गए। बिन्दो समझ गई कि वह गहने उसके नहीं हैं। बेचारी जी मसोस कर रह गई, और करती भी क्या?

विन्दो की ससुराल में खेती-बारी होती थी। परिवार बड़ा था। विन्दो की दो जिठानियां थीं और एक अविवाहित देवर। तीन भाई तो खेती का काम मन लगाकर करते थे; किन्तु विन्दो के पति जवाहर का मन खेती के कामों में न लगता था। वह स्वभाव से ही कुछ शौकीन थे। उनकी गाने बजाने की तरफ विशेष रुचि थी। कुश्ती लड़ने और पहलवानी करने का भी शौक था। गठे हुए बदन पर सदा मलमल या तनजेब का कुरता रहता; घुंघराले बाल सदा किसी न किसी सुगंधित तेल से बसे रहते। स्वभाव में आत्माभिमान की मात्रा भी अधिक थी। वे कुछ न कमा कर भी घर भर पर अपना रोब जमाये रहते।

विन्दो कुछ पढ़ी-लिखी होने के कारण उस देहात में आदर की वस्तु हो गई थी; विशेषकर उस समय अवश्य, जब वह रामायण या महाभारत पढ़ती और गांव की अनेक स्त्रियां वहां एकत्र हो जातीं। वे विन्दो की सास के भाग्य की सराहना करतीं और कहतीं—"यह लक्ष्मी-सी बहू तुम्हारे घर आई है; इसके कारण भगवान के दो बोल हम लोग भी सुन पाती हैं।" विन्दो भी अपने इस देहाती जीवन से असन्तुष्ट न थी। सास उसका आदर करती थी; जेठानियां उसे काम न करने देतीं। इसके अतिरिक्त जवाहर उसे प्यार भी बहुत करता था। उसी घर में लड़ाई-झगड़ा होने पर कई बार ऐसे मौके आए कि उसके जेठ अपनी स्त्रियों पर हाथ चला बैठे। किन्तु जवाहर विन्दो से कभी एक कड़ी बात भी न करता। वह हर तरह से, अपने देहाती ढंग से ही सही, उसे सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करता। विन्दो भी अब सुखी थी; उसे गहने-कपड़े की याद न आती थी। वैसे तो

देहात में अच्छे गहने-कपड़े पहिनता ही कौन है ? फिर भी सब के बीच में बिन्दो ही बिन्दो दीख पड़ती थी। बिन्दो सबसे अधिक सुन्दरी तो थी ही; साथ ही पति की तरह वह सबसे अच्छे कपड़े भी पहिना करती थी।

मना करने पर भी वह जिठानियों के साथ काम करती और सास को नियम से रोज रामायण सुना देती। रात को अलाव के पास बैठती, जहाँ गांव की अनेक युवतियां, वृद्धाएं, युवक और प्रौढ़ सभी इकट्ठे होते; फिर बहुत रात तक कभी कहानी होती और कभी पहेलियां बुझाई जातीं। वहां दिन भर के परिश्रम के बाद सब लोग कुछ घंटे निश्चिन्त होकर बैठते; उस समय कहानी और पहेली के अतिरिक्त किसी को कोई भी चिन्ता न रहती थी।

सवेरे नदी का नहाना भी कम आनन्द देने वाला न रहता। वूढ़ी, युवती, बहू, बेटी सब इकट्ठी होकर नहाने जातीं; रास्ते में हँसी-मखौल और तरह तरह की बातें होतीं; बिन्दो भी उनके साथ जाती; नदी में नहाना उसे विशेष प्रिय था और कभी कभी जब वह बिरहा गाते हुए दूर से आती हुई अपने पति की आवाज़ सुनती या जब वह देखती कि उसका पति अपनी मस्त आवाज़ में—

"खुदा गवाह है हम तुमको प्यार करते हैं" गा रहा है उसे ऐसा प्रतीत होता कि जवाहर उसी को लक्ष्य करके यह कह रहा है। तात्पर्य यह कि बिन्दो पूर्ण सुखी थी; अब उसको कोई और इच्छा न थी।

[३]

एक बार बिन्दो की मां बीमार पड़ी। मां की सेवा करने के लिये बिन्दो को लगातार ४-५ महीने नैहर में रहना पड़ा।

फिर उसकी आंखों के सामने वही रायसाहब की लडकिय और वही गहने-कपडों का प्रदर्शन होने लगा। उसकी सोई हु आभूषणों की आकाक्षा फिर से जाग उठी। वह सोचने लगं कि क्या इस जीवन में मेरी अभिलाषा कभी पूरी ही न होगी? तो फिर ईश्वर ने मुझे इतना रूप ही क्यों दिया किन्तु विधि के विधान पर किसका जोर चलता?

रायसाहब निर्मूलचंद चालीस के उस पार पहुच चुके थे, किन्तु फिर भी उनमें रसिकता की मात्रा आवश्यकता से अधिक थी। वे प्राय सिनेमा देखने जाया करते थे, किसी अच्छी कहानी या एकटिंग के लिए नहीं, केवल सुन्दर चेहरों को देखने के लिए। उन्होंने सब तीर्थ भी कर डाले थे, और प्राय पर्वों पर सब काम छोड़ कभी वे स्नान-घाटों पर पहुच जाते थे। किसी प्रकार के पुण्य-लाभ की उन्हें इच्छा रहती थी या नहीं, यह तो ईश्वर जाने; किन्तु स्नान करती हुई युवतियों के अंगप्रत्यंग की ताक-झाक की उत्कट इच्छा उनके चेहरे पर कोई भी साफ देख सकता था। वे काश्मीर और नैनीताल भी अक्सर गर्मी की छुट्टियों में जाया करते थे; किन्तु वे जलवायु परिवर्तन के लिए जाते थे या और किसी उद्देश्य से यह नहीं कहा जा सकता। वे सुन्दर स्त्रियों के पीछे अनायास ही मीलों का चक्कर अवश्य लगा आते थे।

वे बहुत कुरूप थे। इसलिए सुन्दरी की बात तो अलग रखिए कोई कुरूप से कुरुप स्त्री भी उनकी तरफ आँख उठा कर देखने में अपना अपमान समझती थी, इसलिए प्राय· गन्दे मजाक करके ही वे अपनी वासना की तृप्ति कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त वे परोपकारी भी थे। उनके घर एक नामीगरामी वैद्यराज रहा करते थे, जो रायसाहब के मित्रों और

उनके आश्रित निर्धनों का मुफ्त इलाज करते थे। उनका दवा-खाना रायसाहब की बैठक से लगा था। मरीज को दवा लेने के लिए रायसाहब की बैठक से होकर ही वैद्यराज के पास जाना पड़ता था। विन्दो की मां का इलाज भी यही वैद्यराज करते थे। घर में और कोई न होने के कारण विन्दो को ही मां के लिए रोज दवा लानी पड़ती थी।

एक दिन दोपहर को विन्दो जब दवा लेने गई तो उसने देखा कि रायसाहब के पास एक सुनार कई तरह के गहने फैलाए बैठा है। सहसा इस प्रकार गहनों की प्रदर्शनी सामने देखकर इतने दिनों की सोई हुई विन्दो की गहनो की उत्कंठा फिर से जाग्रत हो उठी। क्षण भर के लिए वह भूल गई कि वह यहां किस लिए आई है। वह उत्सुकता पूर्वक उन फैले हुए गहनों के पास बैठ गई और बड़े चाव से उन्हें उठा-उठा कर देखने लगी, उसमें एक तीन लड़ की कंठी थी जो विन्दो को बहुत पसंद आई। उसने उस कंठी को कई बार उठाया और रखा; और अन्त में एक ठंडी सांस के साथ वह उसे वहीं रख कर अलग खड़ी हो गई। रायसाहब ने भी वही कंठी पसंद की। बाकी गहने वापिस करके सुनार को दाम देने के लिए दूसरे दिन बुलाकर उन्होंने उसे रवाना कर दिया।

यद्यपि विन्दो की उमर की राय साहब की लड़कियां थीं; किन्तु फिर भी विन्दो उनकी कुदृष्टि से बची न रही। उसके इस समय के हार्दिक भाव रायसाहब अच्छी तरह ताड़ गये और वार करने का यही उपयुक्त समय देखकर वे हँसते हुए बोले— "विन्दो यह कंठी तुम्हें बहुत पसंद आई है; पहिनोगी?" एक प्रकार की अव्यक्त आशा से

बिन्दो का चेहरा खिल उठा, पर यह प्रसन्नता क्षणिक थी। वह गम्भीर होकर बोली—

"नहीं, म न पहिनगी। गहने गरीबों के लिए नहीं होते।"

राय साहब बोले—"गहने तो गरीब-अमीर सभी के लिए होते हैं। फिर तुम्हारी तरह का गरीब तो इच्छा करते ही मनमाना गहना पा सकता है।"

"सो कैसे"? बिन्दो ने पूछा—"गहनों की इच्छा तो मुझे सदा से रही है, पर वे मुझे कभी नहीं मिले और न जीवन भर मिलेंगे, यह में अच्छी तरह जानती हू।"

राय साहब धीरे धीरे बिन्दो की तरफ आते हुए बोले—"जीवन भर की बात तो अलग रही बिन्दो! यह कंठी तुम्हें इसी समय मिल सकती है, केवल तुम्हारी इच्छा करने भर की देर है। तुम्हारे ऊपर एक क्या, ऐसी लाखों कठिया निछावर की जा सकती हैं। पर बिन्दो यदि तुम भी मेरे मन की समझतीं!"

रायसाहब के आरक्त चेहरे को और हिंसक पशु की तरह आँखों को देखते ही बिन्दो सिहर उठी और दो कदम पीछे हट कर बोली—"आप मुझे दवा दिलवा दें, मैं जाऊं अम्मा अकेली हैं।" उसने इन बातों को इतने जोर-जोर से कहा जिसमें अन्दर आवाज पहुँच सके।

वह शीघ्र ही दवा लेकर घर लौटी। उसने मन ही मन सोचा अब मैं वहा दवा लेने न जाऊंगी, रायसाहब की नीयत ठिकाने नहीं है। मैंने समझा था कि वह बेटी समझ कर मुझे कंठी देना चाहते हैं; परन्तु वे तो सतीत्व के मोल उसे बेचना चाहते हैं। चूल्हे में जाय ऐसी कंठी; मुझे न चहिये विधाता! सतीत्व

ठी से कई गुना ज्यादा कीमती है; किन्तु इतने पर भी उस कंठी को वह भूल न सकी। रह-रह कर कंठी उसकी आँखों के आगे झूलने लगी। फिर उसने एक युक्ति सोची। यह हो सकता है कि जैसे वह मुझे छलना चाहते हैं मैं भी उन्हें छलूं। उनसे कंठी लेलूं फिर बच कर भाग आऊं। ऐसे अनेक तरह के संकल्प-विकल्प करती हुई बिन्दो सोगई।

[४]

दूसरे दिन दोपहर को बिन्दो को फिर दवा लेने के लिए जाना पड़ा। पहुँचकर उसने देखा कि रायसाहब की मसनद के पास उसी तरह की चार कंठियां पड़ी हैं। बिन्दो के पहुँचते ही रायसाहब ने उसे बैठने के लिये कहा। बिन्दो बैठगई। कल उसने जितने संकल्प किए थे उसे इस समय याद न रहे। कंठियों की चका-चौंध के सामने बिन्दो को सब कुछ भूल गया। बिन्दो के सामने ही रायसाहब ने एक कंठी को तौला कर उसकी कीमत २५०) रुपये सुनार को देकर बिदा किया। बिन्दो चकित दृष्टि से कभी उस कंठी को ओर और कभी उन रुपयों की तरफ देखती थी। व्यापारी के जाते ही जैसे उसकी तन्द्रा टूटी। वह उठकर खड़ी होगई; बोली-"दवा दिलवा दीजिए मैं जाऊं देरी होती है।"

'अभी कहां की देरी होने लगी।" कहते कहते रायसाहब ने एक कंठी बिन्दो के गले में पहिना दी और उसे जबरन पकड़ कर एक बड़े शीशे के सन्मुख खड़ा कर दिया; फिर उसकी तरफ सतृष्ण नेत्रों से देखते हुए बोले--

"अपनी सुन्दरता देखो, वही बिन्दो है या कोई दूसरी!" बिन्दो मंत्रमुग्ध सी देखती रह गई। वह अभी

रायसाहब की किसी बात का उत्तर भी न दे पायी थी कि इसी समय उन्होंने अपना बडे बडे दांतों वाला मुँह बिन्दो के सुन्दर ओठों पर धर दिया। बिन्दो को जैसे बिच्छू ने डक मार दिया हो, वह घबराई किन्तु कुछ वश न चला। इस प्रकार कुछ तो कठी की लालच में और कुछ रायसाहब की जबरदस्ती के कारण उस दिन दोपहर के सन्नाटे में अभागी बिन्दो अपने को खो बैठी। बेचारी को उस कठी की बहुत बडी कीमत देनी पडी। परन्तु उसके बाद फिर वह रायसाहब के घर दवा लेने कभी न गई।

उसके कुछ ही दिन बाद बिन्दो ससुराल चली गई और उस कंठी को भी वह सबसे छिपाकर अपने साथ ले गई। ससुराल में लोगों के पूछने पर उसने यही बतलाया कि यह कठी उसकी मा ने उसे दी है।

किन्तु बिन्दो ने उसे कभी पहिनी नहीं। पति के आग्रह करने पर जब कभी वह उसे, घंटे आध घंटे के लिए पहिनती थी तो ऐसा मालूम होता है था जैसे काला विषधर उसके गले से लिपटा हो। कंठी को देखते ही प्रसन्न होने के बदले वह सदा उदास हो जाती थी।

बिन्दो के पति और जेठों में अनबन हो गई। भाई-भाई अलग हो गये। दूसरे भाई तो खेती करके खुशी खुशी आराम से रहने लगे, किन्तु जवाहर से खेती का काम नहीं होता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि सब लोग तो चार पैसे कमाकर गहने-कपडे की भी फिकर करने लगे पर इधर जवाहर के घर फाके होने लगे। अभिमानी स्वभाव के कारण जवाहर अपनी विपत्ति भाइयों पर प्रकट न होने देता।

किन्तु अब पहलवानो छूट गई; मलमल तनजेब के कुरते मैले दिखने लगे; सिर में तेल भी कहां से मिलता जब खाने के लिए घर में अन्न का दाना भी न रहता? घिन्दो से पति का कष्ट देखा न गया और उसने एक दिन कंठी निकाल कर पति को बेचने के लिए दे दी। जवाहर बड़ी प्रसन्नता से कंठी को लेकर सराफे की ओर गया; किन्तु थोड़ी देर बाद उसने लौट कर निराशा से कहा—

'यह तो मुलम्मे की है"।

घिन्दो यह सुनकर, सर थाम कर, बैठ गई; मानो उस पर वज्र गिर पड़ा।

---

[५]

नारी-हृदय

नारी-हृदय

[१]

शहर में प्लेग था। लोग धडाधड मर रहे थे। बीमारी भी ऐसी थी—बीमार पडते ही लाश निकलते देरी न लगती। सब लोग शहर छोड-छोड कर बाहर बँगलों में या झोपडे बना कर रहने के लिए भागने लगे। न चाहते हुए भी मुझे शहर छोडना पडा। मुझे यहां से वहां भागना अच्छा न लगता था। घर में मैंने सब को प्लेग का टीका लगवा दिया था और शाम को ७-५ बूंद प्लेगक्योर भी पिला दिया करता था। इच्छा थी कि शहर में ही बना रहूं। कौन यहां से वहां भागने की झंझट करे। वैसे ही खर्च के मारे हैरान था। फिर और लोगों की तरह में झोपडा बना कर भी तो न रह सकता था? वकालत की शान में

फरक न पड़ जाता? रहना तो मुझे बँगले पर ही पड़ेगा और इन दिनो बँगले के मालिकों का दिमाग तो सातवें आसमान पर ही रहता है- १००), ७५) और ५०) से नीचे तो वह बात ही नहीं करते। फिर आज कल की आमदनी में किराये का कम से कम ५०) माहवारी ही रख लो तो महीने में २००) हो जाते हैं। मुश्किल ही समझो, पर करता क्या? अपने प्रयत्न भर तो मैंने शहर में ही रहे आने की कोशिश की पर मेरी स्त्री न मानी। उसने, जब तक मैं मकान बदल कर बँगले पर रहने न चला गया, मेरा खाना-पीना और सोना हराम कर दिया। उसकी एक जरा सी बच्ची थी जिसके लिए वह इतनी व्याकुल रहती-जैसे सारे शहर भर का प्लेग उसी पर फट पड़ेगा।

× × ×

कचहरी की छुट्टी थी। मैं अपने आफिस वाले कमरे में एक नौकर की सहायता से अपनी कानून की किताबें जमा रहा था। कमरे में कई आलमारियां थीं। मैं उन्हें साफ करवा के वहां अपनी पुस्तकें और अन्य वस्तुएं तरतीब वार रखवा रहा था। उन आलमारियों से रद्दी कागजों के साथ एक लिफाफा भी वजन में जरा भारी होने के कारण खट से नीचे गिर पड़ा। मैं ने उसे गिरते देखा किन्तु उदासीन भाव से फिर अपने काम में लग गया। मैं कमरे से बाहर जाने लगा-लिफाफा फिर मेरे पैरों से टकराया इस बार मैंने उसे उठा लिया उठाकर देखा तो उस पर किसी का भी पता तो न था पर वह मजबूत डोरे से कस कर बांधा गया था और गांठ के ऊपर चपड़े से सील लगी हुई थी। लिफाफे को उठाकर मैंने

जेब में रख लिया। दिन भर कार्य की अधिकता के कारण मुझे उसकी याद ही न रही।

[२]

शाम को जब मैं भोजन करके लेटा तो क्रम-क्रम से दिन भर की घटनाओं पर विचार करने लगा। एकाएक मुझे उस लिफाफे की याद आ गई। मैंने बिस्तर से उठकर कोट के जेब से लिफाफ़ा निकाला और कैंची से धागे को काट कर सावधानी से खोला, देखा तो उसमें किसी स्त्री के लिखे हुए कुछ पत्र थे। उत्सुकता और बढ़ी। मैंने पत्रों को तारीख वार पढ़ना प्रारम्भ किया। पहला पत्र इस प्रकार था।

शान्ति-सरोवर
१।६।३१

मेरे देवता !

मुझे मालूम है कि आप मुझसे नाराज़ हैं। थोड़ा भी नहीं बहुत अधिक। यहां तक कि आप दो अक्षर लिख कर अपना कुशल-समाचार देना भी उचित नहीं समझते। आपकी इस नाराजी का कारण भी मुझ से छिपा नहीं है।

मैं ही जानती हूं कि किन परिस्थितियों में पड़ कर मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन कर रही हूं। यदि आप मेरे स्थान पर होते तो आप भी वही करते, जो मैं करती हूं।

अन्त में मैं आप से यही निवेदन करती हूं कि आप मुझ से नाराज न हों। अपने कुशल-समाचार का पत्र भेज-कर अनुग्रहीत करें।

आप की ही—
प्रमीला

पत्र २

शान्ति-सरोवर
१०।६।३१

मेरे सर्वस्व !

उस दिन पत्र भेजकर कई दिनों तक उत्तर की प्रतीक्षा करती रही किन्तु आज तक आप का एक भी पत्र नहीं मिला उत्सुक नेत्रों से रोज पोस्टमैन की राह देखती हू। वह आता है और मेरे दरवाजे की तरफ बिना ही मुडे हुए चला जाता है। सबके पास चिट्ठिया आती हैं परन्तु मेरे पत्थर के देवता ! आप न पसीजे आपके पत्र एक भी न आए न जाने कितने तरह के विचार आपके दिमाग में आते और जाते होंगे, और आप न जाने क्या क्या सोच रहे होंगे। कदाचित आप सोचते हों कि मैं बडी अकृतज्ञ, मूर्खा और अभिमानिनी हूँ, जिन लोगों ने मेरे साथ इतनी भलाई की, मुझे सर आखों पर रक्खा उन्हीं के साथ मैं कृतघ्नता कर रही हू। यही है न ? किन्तु म क्या करू ? मैं परवश हू। पत्र में कुछ लिख नहीं सकती। यदि आप कभी मुझसे मिलने का कष्ट करेंगे, अपने चरणों के दर्शन का सौभाग्य देंगे, तब मैं आपके चरणों पर सर रखकर आपको समझा दूगी-आप को बतला दूगी कि मैं अपराधिनी नहीं हू तब आप जान सकेंगे कि मैं कितनी विवश और कितनी निरुपाय हूँ। नाराज तो उसी स हुआ जाता है जो नाराजी सह सके। समय पाकर चरणों पर सर रखकर अपने अपराधों को क्षमा करवा सके। किन्तु आप नाराज हैं ? मुझसे ! जो न जाने कितने मील की दूरी पर है। जो हर प्रकार से विवश है, जिसे आपको छूने तक का अधिकार नहीं जो केवल आपकी कृपा-दृष्टि की भिखारिणी है। आह ! यदि आप मेरी विवशता का कुछ भी अनुभव करते ?

आप मुझ से हँस कर बात करते हैं, मैं हँस देती हूँ, अपने को धन्य समझती हूँ। कल से आप मुझ से बात ही न करना चाहें तो मैं आपका क्या कर सकती हूँ? मुझे क्या अधिकार है सिवा इसके कि कलेजे पर पत्थर रखकर, सब चुपचाप सह लूं। मैं खुल कर रो भी तो नहीं सकती, मुझे इतना भी तो अधिकार नहीं है। आप ने नाराज होकर पत्र लिखना बंद कर दिया है, कल यदि आपको मेरी शक्ल से भी नफरत हो जाय तो भला सिवा रोने के मेरे पास और क्या बच रहेगा। मुझ सरीखी तो आपके घर चार दासियां होंगी। किन्तु मेरा दुनिया में कौन है? मैं तो घर-बाहर की ठुकराई हुई अभागिनी अबला हूं। आपने दया करके मुझे सम्मान, आदर और अपने हृदय में आश्रय दिया है। उसे इस निर्दयता से न छीनिये। एक बार मुझसे मिल लीजिए। इसके बाद जैसी आपकी धारणा हो वैसा कीजिये। आप मुझे जिस दंडकी अधिकारिणी समझेंगे मैं उसे सहने के लिए तैयार हूं। यदि आप मुझे अपने चरणों से दूर कर देंगे तब भी मैं आपकी ही रहूंगी। समाज की आँखों में नहीं, किन्तु अपनी और परमात्मा की आँखों में! आप मुझे भले ही अपनी न समझें, परन्तु मैं तो आजीवन आपको देवता की तरह पूजती रहूंगी। मेरा अटल विश्वास है कि आप सबके होने के बाद, थोड़े से मेरे भी हैं। कभी साल-छै महीने में मिनट दो मिनट के लिए ही सही, मुझे भी आप के चरणों की सेवा करने का अधिकार है।

उत्तर की प्रतीक्षा में

अभागिनी-प्रमीला

पत्र ३

शान्ति-सरोवर
३०।६।२१

मेरे स्वामी !

यह तो हो ही नहीं सकता कि मेरे पत्र आपको मिलते ही न हों। क्षण भर के लिए यह मान भी लिया कि मेरे पत्र आपको मिले ही नहीं। फिर भी क्या एक कार्ड पर दो शब्द लिखकर आप मेरे पत्र न भेजने कारण न पूछ सकते थे? खैर, आप अपनी मनमानी कर लीजिये। मैं हूँ भी इसी के योग्य, कहा भी गया है-जैसा देव वैसी पूजा। आपने मुझे ठुकराकर, मेरी अवहेलना कर के उचित ही किया है। इसमें मैं आपको दोष कैसे दूं? जिसका जन्म ही अपमान, अवहेलना और अनादर सहने के लिये हुआ हो वह उससे अधिक अच्छी वस्तु की आशा ही क्यों करे? मैं अपने आपको भूल गई थी। आज मेरी आँखे खुल गईं। मुझे अपनी थाह मिल गई। मेरी समझ में आ गया कि मैं कहाँ हूँ।

परमात्मा ने स्त्री-जाति के हृदय में इतना विश्वास, इतनी कोमलता और इतना प्रेम शायद इसीलिये भर दिया है कि वह पग-पग पर ठुकराई जावें। जिस देवता के चरणों पर हम अपना सर्वस्व चढ़ाकर, केवल उसकी कृपा-दृष्टि की भिखारिणी बनती हैं, वही हमारी तरफ आँख उठाकर देखने में भी अपना अपमान समझता है। माना कि मैं समाज की आँखों में आपकी कोई नहीं। किन्तु एक बार अपना हृदय तो टटोलिये, और सच बतलाइये क्या मैं आपकी कोई नहीं हूं। समाज के सामने अग्नि की साक्षी देकर हम विवाह-सूत्र

में अवश्य नहीं बँधे, किन्तु ,शिव जी की मूर्ति के सामने भगवान शंकर को साक्षी बनाकर क्या आपने मुझे नहीं अपनाया था ? यह बात गलत तो नहीं है ? मैं जानती हू कि आप यदि मुझसे बिल्कुल न बोलना चाहें किसी तरह का भी सम्बन्ध न रखना चाहें तब भी मैं आप का कुछ नहीं कर सकती। यदि किसी से कुछ कहने भी जाऊं तो सिवा अपमान और तिरस्कार के मुझे क्या मिलेगा ? आपको तो कोई कुछ भी न कहेगा आप फिर भी समाज में सिर ऊंचा करके बैठ सकेंगे। किन्तु मेरे लिये कौन सा स्थान रहेगा ? अभी एक रूखा सूखा टुकड़ा खाकर जहाँ रात को सो रहती हूँ, फिर वहाँ से भी ठोकर मारकर निकाल दी जाऊंगी, और उसके बाद गली गली की भिखारिन बन जाने के अतिरिक्त मेरे पास दूसरा क्या साधन बच रहेगा ? सम्भव है आप आज मुझे दुराचारिणी या पापिनी समझते हों, और इसीलिए बहुत सोच-विचार के बाद आपने मुझसे सम्बन्ध-त्याग में ही कुशलता समझी हो, और पत्र लिखना बन्द कर दिया हो।

खैर, आप मुझे कुछ भी समझें, किन्तु ऊपर से परमात्मा देखता है कि मैं क्या हू ? दुराचारिणी हूँ या नहीं, पापिनी हू या क्या ? इसका साक्षी तो ईश्वर ही है, मैं अपने मुह से अपनी सफाई क्या दूं ? अब केवल यही प्रार्थना है कि मुझे क्षमा करना, मेरी त्रुटियों पर ध्यान न देना, और कृपाकर मेरे पत्र का उत्तर भी न देना। क्योंकि अब आपका पत्र पढने के लिये, शायद मैं संसार में भी न रहूं।

अभागिनी—

प्रमीला

[३]

पत्र पढ़ कर मैंने एक ठंडी सास ली और करवट बदली, देखा- न जाने कबसे मेरी स्त्री सुशीला मेरे सिरहाने खड़ी है। मुझे देखते ही वह भागी, मैं ने दौड़कर उसकी धोती पकड़ ली और उसे पलँग तक खींच लाया। उसे जबरन पलंग पर बैठाल कर मैंने पूछा कि—"तुम भागी क्यों जा रही थीं ?"

"तुम बड़े कठोर हो" उसने मुँह फेरे ही फेरे उत्तर दिया—

"क्यों ?" मैं ने उसका मुँह अपनी तरफ फेरते हुए पूछा—

"मैं कठोर कैसे हूं ?"

अपनी आँखों के आसू पोंछती हुई वह बोली—

'यदि तुम निभा नहीं सकते थे, तो उस बेचारी को इस रास्ते पर घसीटा ही क्यों" ?

मुझे हँसी आगई, हाला कि प्रमीला के पत्रों को पढ़ने के बाद, मेरे हृदय में भी एक प्रकार का दर्द सा हो रहा था। मुझे स्त्रियों की असहायता, उनकी विवशता और उनके कष्टों से बड़ी तीव्र, मार्मिक पीड़ा हो रही थी। मैंने किंचित मुस्कराकर कहा—

"पगली ! यह पत्र मेरे लिये नहीं लिखे गये"।

उसकी भवें तन गईं, बोली—

"तो भला छिपाते क्यों हो? क्या मैं बुरा मानती हूँ? बुरा मानती ज़रूर, यदि मैं प्रमीला के पत्र न पढ़ चुकी होती। पत्र पढ़ने बाद तो मुझे उस पर क्रोध के बदले दया ही आती है। तुम यदि मुझे उसका पता बतादो तो, मैं स्वयं उसे यहाँ लिवा लाऊं। बेचारी का जीवन कितना दुखी है"।

मैंने कहा-"भला मैंने कभी तुमसे झूठ भी बोला है? यह पत्र मुझे आज इसी कोठरी में रद्दी कागज़ों में मिले हैं। जिस लिफ़ाफे में ये बन्द थे वह भी यह है—देखो!" यह कहते हुए मैंने लिफाफा उठाकर सुशीला के सामने रख दिया। सुशीला ने एक बार लिफाफे की ओर, और फिर मेरी ओर देखते हुए कहा।

"तुम्हीं क्या पुरुष मात्र ही कठोर होते हैं।"

---

[५]

पवित्र ईर्षा

पवित्र ईर्षा

[१]

विमला अपने बगीचे में माली के साथ तरह तरह के फूल, और पत्तियों को पहिचान रही थी, और उन्हीं के साथ खेल रही थी, क्योंकि उसके साथ खेलने के लिए उसके कोई सगे भाई बहिन न थे। आज राखी का त्योहार था। बारह महीने का दिन, सभी बच्चे अपने अपने घरों में खेल कूद रहे थे। इस चहल पहल में किसी को आज विमला की याद न रही इस लिए वह बिल्कुल ` ी ड़े ' थी। अचानक उसकी दृष्टि, सड़क पर हरी हरी ' से सजी हुई कुछ स्त्रियाँ और बालिकाओं पर जिनके हाथों में चांदी के समान चमकती हुई ^ " " फूल माला, फल फूल, और नारियल

के साथ रंग बिरंगी राखियां चमचमा रहीं थी। उसी समुदाय में विमला की सखी चुन्नी भी थी। चुन्नी को देखकर विमला चुप न रह सकी कौतूहल वश वह पुकार उठी—

"इतनी सज सजा के कहां जा रही हो चुन्नी? यह थाली में क्या लिए हो चमकता हुआ? चुन्नी विमला की *अनभिज्ञता पर हंस पड़ी बोली—*

"इतना भी नहीं जानती विन्नो! आज राखी है न? हम लोग भगवान जी के मन्दिर में पूजा करने जाती हैं वहां से लौट कर फिर राखी बांधेगी"।

"किसे बांधोगी राखी"? विमला ने उत्सुकता से पूछा इस प्रश्न पर सब खिलखिला के हंस पड़ीं। विमला शरमा गई। विमला चुन्नी की सहेली थी, अपनी सखी के ऊपर इस प्रकार सबका हंसना उसे भी अच्छा नहीं लगा; वह विमला के पास आकर बोली—

"विन्नो अभी हम लोग भगवान जी की पूजा करके उन्हें राखी बांधेगी। फिर घर आकर अपने अपने भाइयों को बांधेगी। तुम भी चलो न हमारे साथ"?

"पर मैंने तो अभी अम्मा से पूछा ही नहीं" चुन्नी यह कह के कि "मां से पूछ कर मन्दिर में आ जाना" चली गई। विमला अपने हृदय में राखी बांधने की प्रबल उत्कंठा लिए हुए, बड़े उत्साह से मां के पास आई। उसकी मां कमला, बैठी कुछ पकवान बना रही थी। वह नौ बरस की बालिका, घर में बिल्कुल अकेली होने के कारण, अब भी निरी बालिका ही थी। मां के गले में दोनों बाहें डालकर पीठ पर झूल गई बोली—

"मैं भी राखी बांधूंगी मां"

"तू किसे राखी बांधेगी बेटी? मां ने किंचित उदासी से पूछा।

"तुम जिसे कह दोगी मां" विमला ने सरल भाव से कह दिया। किन्तु मां के आंखों के आंसू न रुक सके। कुछ क्षणों में अपने को कुछ स्वस्थ पाकर कमला ने कहा—

"तेरी किस्मत में ही राखी बांधना लिखा होता तो क्या चार भाइयों में से एक भी न रहता, राखी का नाम लेकर जला मत बेटी! चुप रह" मां के आंसुओं से विमला सहम सी गई। कहां के और किसके चार भाई; वह कुछ भी न समझी; हां वह इतना ही समझी कि राखी के नाम से मां को दुख होता है इसलिए राखी का नाम अब मां के सामने न लेना चाहिये। पर राखी बांधने की अपनी उत्कंठा को वह दबा न सकी। किसे राखी बांधे, और कैसे बांधे; इसी उधेड़ बुन में वह फिर बगीचे की ओर चली गई। फाटक के नजदीक चुपचाप बैठकर वह गीली मिट्टी से लड्डू, पेड़ा; गुजिया और तरह तरह के पकवान बनाने लगी. किन्तु राखी की समस्या अभी भी उसके सामने उपस्थित थी। इसी समय रोली का टीका लगाए, फूलों की माला पहिने, और हाथों में चमकती हुई राखियां बांधे हुए, उसके पास अखिलेश आया। वह अपना यह वैभव विमला को दिखलाना चाहता था क्योंकि विमला और उसमें मित्रता होने के साथ साथ, सदा इस बात की भी लाग डांट रहती थी कि कौन किससे, किस बात में बढ़ा चढ़ा है। दोनों सदा इस बात को सिद्ध करना चाहते थे कि हम तुमसे किसी बात में कम नहीं हैं।

विमला पकवान बनाने में इतनी तल्लीन थी कि अखिलेश का आना उसे मालूम न हो सका। और दिन होता तो शायद विमला के इस प्रकार चुप रह जाने पर अखिलेश भी चला जाता, परन्तु आज तो उस विमला को अपनी राखियां दिखलानी थीं; उस पर यह प्रकट करना था कि देखो विमला मुझे जो सम्मान प्राप्त है वह तुम्हें नहीं, इसलिए उसने विमला को छेड़ा—

'विन्नो! यह तुम्हारे मिट्टी के लड्डू कौन खायगा जो इतने ढेर से बनाए जा रहे हो ?''

विमला के हाथ का लड्डू गिर कर फूट गया। उसने तुरन्त अखिलेश की तरफ देखा और अखिलेश ने सगर्व दृष्टि से अपने हाथों को देखा, जिन पर राखियां चमक रहीं थीं। विमला अपने पकवानों को भूल गई, फिर वही राखियां उसके दिमाग में झूलने लगीं। अखिलेश के पास खड़ी होकर हाथ से मिट्टी झाड़ती हुई बोली—

"तुम्हें किसने राखी बांधी है अखिल"

"चुन्नी ने बांधी है और मैंने उसे एक रुपया दिया है समझीं" अखिलेश ने कहा। कुछ क्षणों तक न जाने क्या सोच कर विमला बोली—

"तो तुम मुझसे राखी बंधवालो अखिल भैया! मुझे रुपया न देकर अठन्नी ही दे देना"

"नहीं भाई! अठन्नी की बात तो झूठी है। मेरे पास इकन्नी है वह मैं तुम्हें दे दूंगा। पर क्या तुम्हारे पास राखी है ?'' अखिल ने पूछा।

विमला कुछ सोचती हुई बोली—

'राखी तो नहीं है। कौन ला देगा मुझे?
आश्वासन के स्वर में अखिलेश बोला—
'तुम पैसे दोगी तो राखी तो मैं ही ला दूगा यह तो कोई बडी बात नहीं है। पर विन्नो ' राखी अकेली नहीं बाधी जाती, राखी बाधने के बाद बहुत से फल, मेवा, और मिठाई भी तो दी जाती है, वह तुम कहा से लाओगी"?
"मिठाई मैं मा से माग लूगी और कुछ नींबू बगीचे स ताड लूगी। पर पैसे तो मेरे पास दो ही हैं उसमें क्या राखी आ जायगी" विमला ने पूछा—
अखिल ने कहा 'दो पैसे में राखी और मिठाई में दोनो ला दूगा विन्नो! अब तुम मा से मिठाई न मागो तब भी काम चल सकता है।"
विमला चाहती भी यही थी कि किसी प्रकार चुपचाप राखी बंधजाय और मा न जान पाए। जब उसे मालूम हुआ कि दो पैसे में राखी और मिठाई दोनों आ जायगी तो उसे बडी प्रसन्नता हुई। उधर अखिल राखी लेने गया इधर विमला फूलों की एक माला एक नहीं सी थाली में जरा सी रोली, और अक्षत रख कर उसकी प्रतीक्षा करने लगी। उसे अधिक प्रतीक्षा न करनी पड़ी। अखिल १॥ पैसे की मिठाई और धेले का एक राखी लेकर कुछ ही देर में आ गया।
माली के घर स जरासा मीठा तेल माग कर एक मिट्टी का दिया जलाया गया, और वहाँ गोधूली की पवित्र वेला में एक अबोध बालिका ने, एक बालक को दो पैसे में सदा के लिए भाई के रूप में बाध लिया। तिलक लगा कर अक्षत छिडक कर विमला ने अखिल को राखी बाधी, फूलों की माला पहिना कर उसे मिठाई खिला दी। और अखिल ने उसी समय

विमला के हाथ पर इकन्नी रखकर उसके पैर छू लिए। पैर छू कर वह ज्योंही ऊपर उठा, सामने विमला की माँ खडी थी। उसकी आँखों से आँसू गिर रहे थे, उसे याद आ रहा था अखिलेश के साथ का ही उसका बच्चा, यदि आज वह होता तो वह भी १२ साल का होता। सहसा मा को सामने देखते ही विमला कुछ संकोच में पड गई इकन्नी को मुट्ठी में दबा कर वह चुपचाप एक तरफ खडी हो गई। अखिल दो कदम आगे बढकर बोला—

'चाची विन्नो ने आज मुझे राखी बाधी है और मैंने उसे एक इकन्नी दी है। अब यह भी मेरी बहिन हो गई न चाची ?

माँ ने अखिल को पकड कर प्यार से हृदय से लगाते हुए गद् गद् कंठ से कहा—

"हाँ और तू होगया मेरा बेटा अखिल !"

अखिलेश ने विमला की माँ की बात सुनी या नहीं। किन्तु वह अपनी एक बहिन के कारण बहुत परेशान रहता था। वह उससे सदा लडती थी। वह कुछ चिंतित सा होकर बोला—

"पर चाची ! चुन्नी तो मुझसे बहुत लडती है। विन्नो बहिन हो गई तो क्या यह भी अब मुझ स लडा करेगी ?"

"नहीं रे पगले ! सब बहिने नहीं लडा करतीं" मा ने कहा, और दोनों बच्चों को लेकर घर गई। उस दिन से अखिल के दो घर होगए। दो घरों में उसे माता की ममता, पिता का दुलार और बहिन का स्नेह मिलने लगा।

[२]

इस खिलवाड को हुए प्राय आठ साल बीत गए। विमला अब १७ साल की युवती थी। विमला और अखिलेश

दोनों सगे भाई बहिन से किसी बात में कम न थे। अब भी हर साल विमला बड़ी धूम धाम, से अखिलेश को राखी बांधा करती थी। सुशी सगी बहिन होकर भी; अखिलेश के हृदय में वह स्थान न बना सकी थी जो विमला ने, अपने सरल और नम्र स्वभाव के कारण बना लिया था। विमला सरीखी बहिन पर अखिलेश को उसी प्रकार गर्व था, जिस प्रकार विमला को अखिलेश के समान सुशील, तेजवान; और मनस्वी भाई के पाने पर था।

बी. ए. की परीक्षा में युनीवर्सिटी भर में फ़र्स्ट आ जाने के कारण अखिलेश को विदेश जाकर विशेष अध्ययन के लिए सरकारी छात्र-वृति मिली, और उसे २ साल के लिए विदेश जाना पड़ा। विदेश जाने के १॥ साल बाद ही अखिलेश को लाल लिफ़ाफ़े में विमला के विवाह का निमंत्रण मिला। विमला के विवाह के समाचार से वह प्रसन्न तो हुआ परन्तु वह विवाह में सम्मिलित न हो सकेगा इससे उसे कुछ दुख भी हुआ।

विमला अपने माता पिता की अन्तिम सन्तान थी उससे बड़े उसके चार भाई और दो बहिनें २, २, ३, ३ साल के होकर नहीं रहे थे। न जाने कितने टोटके, पूजा पाठ और जप तप के बाद वह इस लड़की को किसी प्रकार जिला सके थे। नई सभ्यता की पक्षपातिनी होने पर भी सन्तान के लिए विमला की माँ ने, जिसने जो कुछ बतलाया वही किया। विमला के गले में किसी महात्मा को बताई हुई एक तावीज़ अब तक पड़ी थी, तात्पर्य यह कि वह माता पिता दोनोंही की बहुत दुलारी थी। १५ वें वर्ष में पैर रखते ही मां को उसके विवाह की चिन्ता हो गई थी, पर बाबू अनन्तराम कुछ लापरवाह से

थे। विवाह का ध्यान आते ही वह सोचते एक ही तो लड़की है वह भी चली जायगी, तो घर तो जंगल हो जायगा; जितने दिन विवाह टले उतने ही दिन अच्छा है। इसी से वह कुछ बे फिकर से रहते, इसके अतिरिक्त उन्हें विमला के योग्य कोई वर भी न मिलता था। वर अच्छा मिलता तो घर मन का न होता; और घर अच्छा मिलता तो वर में कोई न कोई बात ऐसी रहती जिससे वह विवाह करने में कुछ हिचकते थे।

उनके मकान से कुछ ही दूर पर गंगा, अपनी निर्मल धारा में तेजी से बहा करती थीं। प्राय वहां के सब लोग रोज गगा में ही स्नान करते थे। विमला भी अपनी मां के साथ रोज गगा नहाने जाती थी। एक दिन प्रात काल दोनों मां बेटी नहाने गई थीं। अचानक विमला का पैर फिसला, और वह बह चली। मा पुत्री को बचाने के लिए आगे बढ़ी, किन्तु बचाना तो दूर; वह स्वयं भी बहने लगी। घाट पर के किसी व्यक्ति की नजर उन पर न पड़ी, इसलिए दोनों मा बेटी बहती हुई पुल के नजदीक पहुच गईं। पुल के ऊपर स कुछ कालेज के विद्यार्थी घूमने निकले थे। एक की नजर इन असहाय स्त्रियों पर पड़ी। वह फौरन कूद पड़ा। बहुत अच्छा तैराक होने के कारण अपने ही बाहु बल पर, वह दोनों मा बेटी को बाहर निकाल लाया। उसकी सहायता के लिए दूसरे विद्यार्थी भी घाट पर आगये थे। कोई डाक्टर के लिए दौड़ा, और कोई मोटर के लिए। कुछ देर में मा तो होश में आगई। पर विमला स्वस्थ न हुई। इसी बीच अनन्तराम जी के पास भी खबर पहुची वे भी दौड़ते हुए आए। कमला और विमला अभी तक नहा कर वापिस न गई थीं। उन्हें रह रह कर आशंका हो रही थी कि कहीं

वही तो न हों ? घाट पर पहुंच कर देखा तो आशंका सत्य निकली। मोटर पर कमला और विमला को वैठाल कर वह घर लाए। वह अपने उपकारी, उस विद्यार्थी को भी न भूले जिसने उनकी स्त्री और कन्या को डूबने से बचाया था। अनन्तराम जी के आग्रह से विनोद को भी उनके घर तक आना पड़ा।

विमला कई दिनों तक बीमार रही, और प्राय: रोज विनोद उसे देखने आता रहा। इस बीच में अनन्तराम ने विनोद का सब हाल मालूम कर लिया और उन्होंने विनोद को सब प्रकार से विमला के योग्य समझा। उन्होंने ईश्वर को कोटिश धन्यवाद दिए, जिसने घर बैठे विमला के लिए योग्य पात्र भेज दिया था। विनोद बसन्तपुर का निवासी था; और यहां कालेज में एम. ए. फ़ाइनल में इसी साल बैठने वाला था। परिवार में पिता को छोड़ कर और कोई न था। पिता डिप्टी कलेक्टर, और बसन्तपुर के प्रसिद्ध रईस थे।

विनोद स्वयं बहुत सुन्दर, स्वस्थ; तेजवान और मनस्वी नवयुवक था। अन्य नवयुवकों की तरह उसमें उच्छृंखलता नाम मात्र को न थी। वह विमला को देखने आता था अवश्य, पर जब तक अनन्तराम जी स्वयं उसे अपने साथ लेकर भीतर न जाते वह कभी अन्दर न जाता। उसके इस व्यवहार और अध्ययनशीलता तथा उसकी विद्या और बुद्धि पर अनन्तराम और उनकी स्त्री दोनों ही मुग्ध थे, और इसी लिए अपनी प्यारी पुत्री को उन्होंने विनोद को सौंप दिया। विनोद भी विमला के शील स्वभाव पर मुग्ध था। इसके पहिले उसने विवाह की तरफ सदा अनिच्छा ही प्रकट की थी। किन्तु विमला के साथ जो विवाह का प्रस्ताव हुआ तो उसे

वह टाल न सका, किन्तु प्रसन्नता से स्वीकार ही किया।

विनोद विमला को इतना अधिक चाहते थे कि विवाह के बाद, वह दो तीन महीनेतक, मा के घर वापिस न आ सकी। विनोद उसे रोकते न थे, पर विमला जानती थी कि उसके जाने के बाद उन्हें कितना बुरा लगेगा। माता पिता स मिलन क लिए कभी कभी वह बहुत विकल भी हो जाती थी, उसकी इस विकलता से विनोद को भी दुख होता था। किन्तु वह विमला का क्षणिक वियोग भी सहने का तेयार न थे यहा नक कि उन्होंने अपने मित्रों तक से मिलना जुलना बद सा कर रक्खा था। उनका अधिकाश समय उनके शयनागार में ही बीतता, वहीं वह पढते लिखते, और वहीं विमला उनकी आखों के सामने होती।

विवाह के तीसरे महीने विनोद के पिता की बदली उसी शहर में हा गई, जहा विमला का मायका था। विमला और विनाद दोनों ही इससे प्रसन्न हुए, अब विमला को माता पिता से मिलन की भी सुविधा हो गई, और विनोद का भी साथ न छूट सकता था। अब वह प्राय दूसरे तीसरे दिन घटे दो घटे के लिए आकर अपने मा बाप से मिल जाया करती थी। इसी प्रकार एक दिन, विनोद के साथ विमला अपनी मा के घर आई। विमला तो अन्दर चली गई, विनोद वहीं हाल की आई हुई चिट्ठिया को देखन लगे। एक पत्र विदेश आया था। लिखावट उसक मित्र और सहपाठी अखिलेश की थी। पत्र था विमला के लिए। विनाद ने उत्सुकता से पत्र को खाला, जिसमें लिखा था—

प्यारी विन्नो

अब तो तुम्हारे पत्रों के लिए बडी लम्बी प्रतीक्षा

करनी पड़ती है। क्या तुम्हें पत्र लिखने तक का अवकाश नहीं मिलता? अपने नए साथी के कारण तो मुझे नहीं भूली जा रही हो? यदि ऐसा होगा तो भाई मेरे साथ बड़ा अन्याय होगा। पत्रों का उत्तर तो कम से कम दे दिया करो। चाची को प्रणाम कहना और अब पत्र देर से लिखा तो मैं भी नाराज हो जाऊंगा समझीं।

तुम्हारा

अखिलेश

पत्र पढ़ कर विनोद स्तम्भित से रह गये। वह समझ न सके कि कब और कैसे अखिलेश की विमला से पहिचान हुई। दो साल पहिले, सात साल तक अखिलेश ने उनके साथ ही पढ़ा है। उसने कभी भी विमला का ज़िक्र उनसे नहीं किया, और न विवाह के बाद, आज तक विमला ने ही कुछ अखिलेश के विषय में उनसे कहा। और अब पत्र आते हैं तो विमला के मायके के पते से; पत्र की भाषा तो यही प्रकट करती है, कि जैसे दोनों बहुत दिनों से बहुत घनिष्ट मित्र के रूप में रहे हैं। वे गहरी चिन्ता में डूब गये, आज पहिली बार विमला उन्हें कुछ दोषी सी जान पड़ी, उसे विनोद से अखिलेश के विषय में सब कुछ कह देना चाहिए था। अखिलेश के प्रति भी आज विनोद के हृदय में एक प्रकार के ईर्षा जनित भाव जाग्रत हुए। फिर पत्र पढ़ने के बाद वह अन्दर न जा सके। पत्र को जेब में रख कर चुप चाप, अपने घर चले आए। विमला ने विनोद की कुछ देर तक प्रतीक्षा की, जब वह अन्दर न गए, तब उसने आकर बैठक में देखा; वहां भी उन्हें न पाकर वह समझी कहीं गए होंगे, किन्तु जब लगातार दो घंटे तक विनोद न लौटे तो वह कुछ घबराई और अपनी मां की कार पर बैठ कर ससुराल आगई।

[३]

"A reserved lover makes a suspicious husbend"

यह कहावत विनोद पर अवश्य चरितार्थ होती थी। वह विमला को जितना ही अधिक प्यार करते थे, उतना ही उन्हें उस पर सन्देह भी होता था। नौकर चाकर से भी विमला का बात करना उन्हें अच्छा न लगता। वह विमला पर अपना एक छत्र अधिकार चाहते थे। वह तो कदाचित यहां तक चाहते थे कि विमला को किसी प्रकार, बहुत ही छोटे आकार में परिवर्तित करके अपने पाकेट में रखलें जिस में वही केवल विमला को देख सकें, वहां तक और किसी की पहुंच ही न हो सके।

विमला जब घर आई तब वह अपनी खाट पर लेटे थे। उन्होंने जान बूझ कर अखिलेश की एक फोटो निकाल कर अपनी चारपाई पर रखली थी। विमलाने पहुंच कर पति का चेहरा देखा, देखते ही पहिचान लिया कि इन्हें किसी प्रकार का मानसिक क्लेश हो रहा है। वह उनके पास पहुंच कर खाट पर बैठ गई, बैठते ही उसकी दृष्टि अखिलेश की फोटो पर पड़ी, कुछ हर्ष, कुछ कौतूहल से पति की उदासी कारण पूछना तो वह भूल गई, अखिलेश का चित्र उठा कर फौरन पूछ बैठी, "यह फोटो तो अखिलेश का है, यहां कैसे आया ? क्या तुम इन्हें जानते हो" ?

"जानता हूं" कहके विनोद ने करवट फेर ली। विमला की तरफ पीठ और दीवाल को तरफ मुंह कर के वह अपनी वेदना को चुप चाप पीने लगे।

"तुम इन्हें जानते होतो अभी तक मुझसे कहा क्यों नहीं"?

विमला ने फिर पूछा। विनोद ने कोई उत्तर न दिया। इसके बाद विमला को फिर कुछ पूछने का साहस भी न

हुआ। वह वहीं एक तरफ बैठ कर विनोद के पैरों को सहलाने लगी, विनोद ने अपने पैरों को जोर से खींच लिया; विमला समझ गई कि नाराजी उसी पर है। वह विनोद के स्वभाव को इतने दिनों में बहुत अच्छी तरह जान गई थी। विनोद उस पर जो पद पद पर सन्देह करते थे, वह भी उससे छिपा न था किन्तु विनोद का हृदय कितना सच्चा; कितना गंभीर और कितना उदार है, यह भी वह भली भांति जानती थी। पति का सन्देह मिटाने के लिए वह नम्रस्वर में बोली।

"देखो किसी तरह का सन्देह न करना अखिलेश मेरा भाई है समझे"।

"सब समझ लिया" विनोद ने रुखाई से उत्तर दिया" विमला ने फिर अपने उसी नम्रस्वर से पूछा—"और तुम वहां से चुपचाप मुझे छोड़ कर चले क्यों आए?

"चला आया मेरी खुशी। तुम्हें अपने साथ नहीं लाना चाहता था; फिर भी तुम क्यों चली आईं? दो तीन दिन मां के साथ रह लेतीं"

विनोद ने तीव्र स्वर में कहा। कहने को तो विनोद यह बात कह गए, किन्तु इस दो ही घंटे में उनके हृदय की जो हालत हुई थी। वह वही जानते थे। कई बार स्वयं जाने के लिए उठे, फिर आत्मअभिमान के कारण न जा सके। नौकर को तांगा लेकर भेज ही रहे थे कि, विमला आ पहुँची। विमला के आने से पहिले वह उसके लिए बहुत विकल थे; किन्तु उसके आते ही वह तन गए। विमला यह समझती थी इसलिए उसे कुछ हंसी आ रही थी, परन्तु फिर भी अपनी हंसी को वह दबाती हुई बोली—

"तो तुम मुझसे यह के आते कि तुम यहा दो तीन रह सकती हो तो मैं रह जाती। अम्मा तो रोक रही थ। कहो तो अब चली जाऊँ"

"हा हा चली जाना" विनोद न मुह से ही कहा हृदय कहता था कि खबरदार! अगर यहा से हिलीं भी तो ठीक न होगा।

विमला बोली "अच्छा बाबू जी कचहरी से लौटेंगे तो उन्हीं की कार पर चली जाऊगी"। किन्तु बाबू जी के कचहरी स लौटने क पहिले ही दोनों का मेल हो गया विमला का फिर मा के घर जान की आवश्यकता न पडी। इसके बाद विनोद को विमला ने अपने और अखिलेश क सम्बन्ध में सब कुछ बतलाया। उसी दिन विमला को यह भी मालूम हुआ कि अखिलेश विनोद का सहपाठी होने के साथ ही साथ अभिन्न हृदय मित्र भी है। यह जान-कर भी कि अखिलेश विमला का राखीबन्द भाई है, न जाने क्यों विनोद का अखिलेश के प्रति विमला का स्नेह भाव सहन न होता था। साथ ही साथ वह अखिलेश का अपमान भी न सह सकते थे, क्योंकि वह अखिलेश का भी बहुत प्यार करते थे।

आषाढ का महीना था। और इसी महीने में अखिलेश विदेश स लौट कर आने वाले थे। एक दिन विमला की मा ने विमला क कहला भेजा कि "आज शाम की ट्रेन स अखिलेश लौटेंगे, स्टेशन चलने के लिए तैयार रहना म कार भेजदूंगी"। विनोद कहीं बाहर गए थे लौटन के बाद जल पान करके बैठे तब विमला ने उनसे कहा,—

"आज अखिल भैय्या आएंगे। स्टेशन चलने के लिये तैय्यार रहना अम्मा कार भेज देंगी"।

"मैंने तुम से कब कहा था कि मैं स्टेशन जाऊंगा जो तुम मुझसे तैय्यार रहने के लिए कह रही हो? मेरे पास न अखिलेश ने सूचना भेजी है और न मैं जाऊंगा तुम्हारे पास सूचना आई है तो तुम चली जाना"।

विनोद ने कहा, और अपना कोट उठा कर फिर बाहर जाने के लिये तैयार हो गए। उन्हें रोकती हुई विमला ने फिर नम्र स्वर में कहा—

"सूचना नहीं भी आई तो चलने को क्या हुआ तुम्हारे मित्र ही तो हैं"?

"चलने को क्या हुआ, इसका उत्तर मैं नहीं दे सकता नहीं जाना चाहता यही काफी है" कहते हुए विनोद फिर आगे बढ़े, विमलाने उनका कोट पकड़ लिया बोली—

"तुम नहीं आओगे तो सब लोग बुरा न मानेंगे? चलो हम लोग स्टेशन से अपने घर आ जायंगे उनके घर न जायंगे बस"

विनोद ने चिढ़ कर कहा—

"क्यों सिर खाये जाती हो विन्नो! एक बार कह तो दिया कि मैं न जाऊंगा। तुम्हारा भाई है, तुम खुशी से आओ, मैं तुम्हें नहीं रोकता। तुम जाना चाहती हो तुम्हें न जाने के लिए मैं विवश नहीं करता, फिर तुम्हीं क्यों चलने के लिए मुझ पर इतना दबाव डाल रही हो"

कहते हुए कोट छुड़ा कर विनोद चल दिए। विमला

चुप होगई। उसने आज ही अनुभव किया कि विवाह के बाद स्त्री कितनी पराधीन हो जाती है। उसे पति की इच्छाओं के सामने अपनी इच्छाओं, और मनोवृतियों का किस प्रकार दमन करना पड़ता है। वह जानती थी विनोद बार बार जाने के लिए कहते हैं अवश्य, पर यदि वह सचमुच चली जाय तो उन्हें कितनी मानसिक वेदना होगी उसके जाने का परिणाम कितना भयंकर होगा।

नियत समय पर कार आई, पर विमला उतर कर नीचे भी न गई; ऊपर से ही दासी के द्वारा कहला भेजा कि सिर में बहुत दर्द है इसलिए वह स्टेशन न जा सकेगी।

स्टेशन पर उतरते ही सब से पहिले अखिलेश ने विमला के विषय में पूछा। और उसे अस्वस्थ जान कर उन्हें दुःख हुआ। सब से मिल जुल कर वह स्टेशन से सीधे विमला के घर आए। विमला स्टेशन न गई थी फिर भी, उसे पूर्ण विश्वास था कि उसे स्टेशन पर न पाकर अखिलेश सीधे उससे मिलने आवेंगे। इस लिये वह अपने छज्जे पर से उत्सुक आंखों से मोटर की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने अपनी मां की मोटर दूर से देखी, और दौड़ कर नीचे आगई। उसे याद न रहा कि वह सिर दर्द का बहाना करके ही स्टेशन नहीं जा सकी है। विमला ने देखा विनोद और अखिलेश साथ ही मोटर से उतरे उसकी मां उन्हें छोड़ कर बाहर से ही चली गई। वह पुरानी प्रथा के अनुसार बेटी के घर आना अनुचित समझती थीं। विमला उन्हें ड्राईंगरूम में ही मिली उसे देखते ही अखिलेश ने स्नेह सिक्त स्वर में उससे पूछा—

"कैसी दुबली होगई हो विम्मो! क्या बहुत दिनों से

बीमार हो? देखो अब मैं आगया हूं अब तुम बीमार न रहने पाओगी"

विमला हस पडी बोली—

"अखिल भैया! तुम्हें ता मैं सदा दुबला ही दिखा करती हूं। पर तुम कितने दुबले होगये हा? तुम्हारा स्वास्थ भी ता बहुत अच्छा नहीं जान पड़ता"।

इसी प्रकार बहुत सी आवश्यक अनावश्यक बातों के बाद अखिल ने विनोद के पीठ पर, एक हलका सा हाथ का धक्का देते हुए कहा।

"और क्यों बे पाजी! मुझसे बिना पूछे तुझे मेरे बहनोई बनने का दुःसाहस कैसे होगया"?

विनोद हंसता हंसता बोला। अखिल यार! इतने दिनों तक विदेश में रह कर भी तुम निरे बुद्धू ही रहे। कहीं ऐसी बातें भी किसी से पूछ कर की जाती हैं। अखिल भी हंस पड़ा। रात अधिक जा चुकी थी, इस लिए वह घर जाने के लिए उठे, विमला ने उनसे जाते समय पूछा।

"अब कब आओगे अखिल भैय्या।"

"तुम जब कह दो बिन्नो"

अखिल ने उत्तर दिया। विमला ने उनसे दूसरे दिन फिर आने के लिये कहा, इसके बाद अखिल अपने घर गए। विनोद को विमला का अखिलेश के प्रति इतना प्रेम प्रदर्शित करना, इस प्रकार अनुरोध से बुलाना अच्छा न लगा। वे बोले तो कुछ नहीं पर उनकी प्रसन्नता उदासी में परिणित हो गई। उन के कुछ न कहने पर भी उनकी भाव भंगी और व्यवहार से विमला समझ गई कि विनोद को कुछ बुरा लगा है।

विनोद ने विमला के बहुत आग्रह करने पर अपने हृदय के सब भाव उससे साफ साफ कह दिये। उन्होंने यह भी कहा कि उन्हे विमला का अखिलेश के प्रति इतना अधिक स्नेह-भाव सन्देहात्मक जान पड़ता है। विमला ने अपने प्रयत्न भर उनके सन्देह को दूर करने की कोशिश की। और अंत म उन्हें यहा तक आश्वासन दिया कि यदि विनोद न चाहेंगे तो विमला अखिलेश से कभी मिलेगी भी नहीं।

किन्तु इतने वर्षों का सम्बन्ध कुछ घंटों में ही तोड़ देना बहुत कठिन है। दूसरे दिन अखिलेश के आते ही विमला यह भूल गई कि, रात के समय क्या क्या बातें हुई थी। वह फिर अखिलेश से उसी प्रकार प्रेम से बातें करने लगी। किन्तु कुछ ही क्षण बाद विनोद की मुखाकृति ने उसे रात की बातों की याद दिला दी। वह कुछ गंभीर होगई उसकी आँखें करुणा और विवशता से छलक आईं। विमला की आंखों में करुणा का अविर्भाव होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि वह हृदय से दुखी थी। उस पर जो सन्देह था वह निर्मूल था। वह जिस मर्मातक पीड़ा का अनुभव कर रही थी, उसे वही समझ सकता है; जिसका पवित्र सम्बन्ध कभी सन्देह की दृष्टि से देखा गया हो। विमला प्रयत्न करने पर भी अपनी आंखों की करुणा, न छिपा सकी उसने एक दो बार अखिलेश की ओर देखा और थोडी बात चीत भी की किन्तु अपनी विवशता या कातरता प्रगट करने के लिये नहीं; किन्तु यह प्रकट करने के लिये उसके इस व्यवहार और उदासीनता से अखिलेश यह न समझ बैठें कि उनका किसी प्रकार का अपमान हुआ है। विमला की दृष्टि और व्यवहार से विनोद का सन्देह और बढ़ गया।

वह विमला की प्रत्येक भावभंगी को बड़े ध्यान से देख रहे थे, और जितना ही वह उस पर विचार करते, उनका सन्देह गहरा होता जाता। यह अखिलेश ने भी देखा कि आज विमला और विनोद दोनों ही कुछ अस्वस्थ और अनमने हैं। किन्तु उनकी अस्वस्थता के कारण अखिलेश ही हो सकते हैं, यह वह सोच भी न सके क्योंकि विनोद और विमला दोनों के प्रति उनका पवित्र और प्रगाढ़ प्रेम था। उस स्नेह भाव को ध्यान में लाते हुए उदासी का कारण अपने आप को समझ लेना अखिलेश के लिये आसान न था। किन्तु फिर भी विनोद और विमला दोनों के ही व्यवहार ने आज उन्हें आश्चर्य में डाल दिया। वह न जाने किस विचारधारा में डूबे हुए अपने घर गए। जाते समय कुछ हिचक और कुछ संकोच के साथ विमला ने उनसे कहा "कभी २ आया करना अखिल भैया"। विनोद उठकर अखिल के साथ ही हो लिए बातचीत करते करते विनोद अखिल के घर तक पहुंच गये। उन्होंने अखिलेश के साथ ही भोजन भी किया। दोनों का प्रेम सच्चा था। उनका स्नेह इतना निष्कपट था, कि विनोद अपने इस सन्देह को भी अखिल से न छिपा सके, उन्होंने अखिल से यहां तक कह दिया कि—

"भाई अखिल यदि तुम मुझे सुखी देखना चाहते हो तो विमला से ज़रा कम मिलो। मैं यह जानते हुए कि तुम मेरे हितैषी हो; मेरे बन्धु हो, विमला चाहे एक बार मुझसे कोई बात छिपा भी जाय; पर तुम न छिपा सकोगे, नहीं चाहता कि तुम विमला से अधिक मेल जोल रखो। अखिलेश! मुझे ऐसा जान पड़ने लगता है कि तुम्हारे स्नेह के सामने विमला के हृदय में मेरे स्नेह का दूसरा स्थान हो जाता है। तुम्हारा मूल्य उसकी आंखों में मुझसे कहीं ज्यादः हो जाता है।"

"पर यह बात तो सच है क्योंकि में उसका भाई हू" अखिलेश न किंचित मुस्करा कर कहा फिर वह गंभीर हाकर बोले—

"विनोद! तुम जैसा चाहो। में विमला से मिलने क लिये बहुत उत्सुक भी नहीं हू, और यदि तुम चाहो तो मैं यह स्थान ही बदल दू कहीं और चला जाऊं, अभी लौटने को ही कितने दिन हुए हैं? सरविस दूसरी जगह भी तो कर सकता हू।"

विनाद घबरा कर बोल उठे–नहीं अखिल तुम यहा से कहीं जावो मत। भाई! तुम दो साल के बाद ता लौटे हो फिर पिता की बदली यहा की हो गई तो सौभाग्य से ही हम दोनों को फिर से साथ २ रहने का अवसर मिला है। उसे में व्यर्थ ही नहीं जान देना चाहता यहा रह कर क्या तुम विमला से मिलना जुलना कम नहा कर सकने"?

'अरे भाइ! तुम जो कुछ कहा सब कर सकता हू पर १२ बज रहे हैं जाओ सोन भी दोगे या नहीं" अखिल न हसते हुए कहा इसके बाद विनोद तो गए अपने घर, और अखिल अपने बिस्तर पर।

[४]

पूरा १ महीना बीत गया न अखिलेश आये, और न विमला से उनकी कभी मुलाकात ही हुई। विमला इस बीच कई बार अपनी मां के घर भी जा चुकी थी, किन्तु अखिलेश से वह वहा भी मिल न सकी। वह हृदय स तो अखिलेश से मिलना चाहती थी पर मुह से कुछ कहन का साहस न होता था। एक दिन वह मा के घर जा रही थी रास्ते में उसे अखिलेश कहीं जाते हुए दिखे, विमला का हृदय बडी जोर से धड़कने लगा। एक

बार उसकी तबीयत हुई कि कार रुकवा कर अखिलेश से उसके इस प्रकार न आने का कारण पूछ ले, किन्तु दूसरे ही क्षण उसे ख्याल आ गया कि वह अखिलेश के न आने का कारण पूछ तो लेगी; किन्तु इस तनिक सी बात का मूल्य उसे कितना अधिक चुकाना पड़ेगा। अपनी प्रसन्नता अप्रसन्नता की उसे उतनी परवा न थी विनोद की शान्ति न जाने कितने समय के लिए भंग हो जायगी। उनकी मानसिक वेदना का विचार आते ही उसने कार बढ़वा ली रोकी नहीं, पर उस दिन अखिलेश को वह दिन भर भूल न सकी, उसे वह दिन याद आ रहा था जिस दिन उसने दो पैसे में अखिलेश को भाई के रूप में बांधा था।

इसी प्रकार कुछ दिन और बीत गए, राखी का त्योहार आया। विमला आज अपने भ्रातृ-प्रेम को न रोक सकी। वैसे वह चाहती तो मां के घर जाकर वहां अपनी मां के द्वारा अखिलेश को बुलवा सकती थी, किन्तु विनोद से छिपा कर वह कुछ भी न करना चाहती थी। इस लिए वह विनोद के पास आकर कुछ संकोच के साथ बोली—

"आज राखी है। तुम मुझे अखिल भैया के घर ले चलना मैं उन्हें राखी बांध आऊंगी"।

विनोद किसी पुस्तक को एकाग्र चित से पढ़ रहे थे। विमला की बात कदाचित बिना सुने ही उन्होंने सिर झुकाए ही झुकाए कह दिया 'अच्छा" विमला को मुंह मांगा वरदान मिला। उसने आगे और कोई बातचीत न की। कौन जाने बातचीत के सिलसिले में कोई बहस छिड़ जाय, और वह अखिलेश को राखी बांधने न जा सके।

आज विमला बहुत प्रसन्न थी। उसने कई तरह के पकवान जो अखिलेश को अच्छे लगते थे, अपने हाथ से बनाए। तरह तरह के फल मगवाए, और वह शाम को राखी बांधने के लिए जाने की तयारी करने लगी। एक दासी द्वारा उसने अखिलेश के पास सन्देशा भी भिजवा दिया कि "आज शाम को छे बजे हम दोनों अखिल भैय्या से मिलने आवेंगे। वे घर पर ही रहें कहीं जाँय नहीं" इस सन्देशा से अखिल को कुछ आश्चर्य न हुआ क्योंकि उस दिन राखी थी। विमला दिन भर बड़ी उमंग और उत्सुकता से संध्या की प्रतीक्षा करती रही, किन्तु शाम को जब छे साढे छै बज गए। और विनोद ने अपनी पुस्तकों पर से सिर न उठाया, तो धीरे से जाकर वह विनोद के पास बैठ गई। विनोद ने सप्रेम दृष्टि से विमला की ओर देखकर कहा।

"कहो किशोरानी। आज कुछ खिलाओगी नहीं"?

विमला ने तुरंत अपने बनाए हुए कुछ पक्वान तश्तरी में लाकर रख दिए, विनोद ने उन्हें खाया। विनोद को इतना प्रसन्न देखकर विमला का साहस कुछ बढ़ गया था बोली—

"देखो छै से साढे छै बज गए अखिल भैय्या के घर अब कब चलोगे"?

विनोद की हंसी कुछ क्रोध मिश्रित उदासीनता में परिणित हो गई। दृष्टि का प्रेम भाव तिरस्कार में बदल गया, कुछ क्षण तक चुप रह कर, वे रूखे स्वर में बोले—

'मैं तो न जाऊंगा। तुम जाना चाहो तो चली जाओ" विमला को जैसे काठ सा मार गया। वह विनोद के इस भाव परिवर्तन को समझ न सकी कुछ चिढ कर बोली—

"तुम्हें सवेरे ही कह देना था कि न चलेंगे तो मैं खबर ही न भिजवाती"।

"मैंने तो नहीं कहा था कि, मैं तुम्हारे साथ अखिल के घर चलूंगा पर तुमने खबर भिजवा दी है तो चली जाओ मैं रोकता नहीं। पर हां एक बार नहीं अनेक बार, मैं तुम पर यह प्रकट कर चुका हूं; कि अखिल से तुम्हारा बहुत मिलना जुलना मुझे पसन्द नहीं है। फिर भी तुम जैसे उसके लिए व्याकुल सी रहा करती हो, यदि तुम्हें मेरी मानसिक वेदनाओं का कुछ ख्याल ही नहीं है तो जाओ! पर मुझे क्यों अपने साथ घसीटना चाहती हो"?

विमला सिहर उठी। कुछ देर बाद अपने को सम्हाल कर बोली?

"अखिल भैय्या से ही क्या तुम न चाहोगे तो मैं अम्मा और बाबू जी से भी न मिलूंगी"।

विनोद ने विमला की बात का कुछ भी उत्तर नहीं दिया और बाहर चले गए। बाहर दरवाजे पर ही उन्हें उनके मित्र की बहिन शांतो मिली। जो उन को भी बहुत ज्यादः चाहती थी भाई की ही तरह; और उन्हें राखी बांधने आई थी! विनोद इस समय किसी अतिथि के स्वागत के लिए तैयार न थे। विशेष कर यदि अतिथि स्त्री हो तब, अभी अभी वह विमला को अखिल से न मिलने के लिये तेज बातें कह चुके थे। दूसरे ही क्षण किसी दूसरी स्त्री के साथ जो विनोद की वैसी ही बहिन हो जैसे विमला अखिल की। विमला के पास जाने में उन्हें कुछ संकोच सा हुआ। पर वह शांतो को टाल भी तो न सकते थे, वह उसे लिये हुए विमला के पास

जाकर ज़रा कोमल स्वर में बोले—

"विमो ! यह अंतो राखी बांधने आई हैं, इन्हें बैठालो"

विमला ने उठ कर आदर और प्रेम से अंतो को बैठाला तो अवश्य; पर कुछ अधिक बात चीत न कर सकी। अंतो विनोद के ही पास बैठकर इधर उधर की बातें करने लगी। विमला ने उनकी बातचीत में भी किसी प्रकार का भाग न लिया। यहां तक कि उनसे कुछ दूर पर बैठकर पान बनाने लगी। और दिन होता तो शायद विनोद से अधिक विमला ही अंतो से बातचीत करती, किन्तु आज वह बड़ी व्यथित सी थी, इसलिए चुप रही। उसकी इस उदासीनता से विनोद ने अंतो का अपमान, घर में आई हुई एक स्त्री अथिति का अपमान समझा। वे मनही मन चिढ़ उठे। पर कुछ बोले नहीं।

राखी की रस्म अदा होने पर विमला अंतो और विनोद दोनों के लिए थालियां परोस लाई। अंतो ने विमला से भी भोजन करने के लिए आग्रह किया; किन्तु तबीयत ठीक न होने का बहाना करके विमला ने भोजन करने से इन्कार कर दिया। अब विनोद भी अपने क्रोध को न सम्हाल सके तिरस्कार सूचक स्वर में बोल उठे—

"तबीयत क्यों खराब करती हो अब भी समय है राखी बांधने चली जाओ"

अंतो कुछ समझी नहीं मुस्कुरा कर बोली—

"राखी बांधने कहां जाओगी भौजी। चलो खाना पहिले खा लो फिर चली जाना" विमला तो कुछ न बोली पर विनोद फिर उसी स्वर में बोल उठे—

"तुम क्या जानो अंतो ! आदमी तो यह जो इधारे में

समझ जाय। आज त्योहार का दिन, और 'यह' जायंगी अखिलेश के घर उसे राखी बांधने। जो लोग अपने घर आवेंगे वे कदाचित दीवारों से बातचीत करेंगे? और फिर क्या अखिलेश को यह घर मालूम नहीं है? चाहते तो क्या आ न सकते थे?

अंतो कुछ घबरा सी उठी बोली—

"जाने भी दो विनोद भैय्या! त्योहार के दिन गुस्सा नहीं करते"।

विमला चुपचाप हाथ में सरौता सुपारी ज्यों का त्यों लिये बैठी थी। पान सामने पड़े थे। उसकी आंखों से बरबस आंसू गिरे पड़ते थे। विनोद को विमला का यह बर्ताव बहुत खल रहा था। अंतो की बात के उत्तर में वह फिर उसी क्रोध भरे स्वर में बोल उठे—

"त्यौहार के दिन गुस्सा तो नहीं किया जाता अंतो, पर रोया जाता है। सो मैं अपनी किस्मत को रोता हूं। पिता जी ने न जाने कब का बैर निकाला; जो नाहक ही बैठे बैठाए मेरे गले से यह बला बांध दी। देख रही हो न? खाना इसी प्रकार तो खिलाया जाता है हमारे सामने थालियां परोस कर, वे आंसू बहा रही हैं; तो हम लोग भी मर-भुखे नहीं हैं। खाना दूसरी जगह भी तो खा सकते हैं"?

कहते हुए विनोद अंतो का हाथ पकड़ कर थाली पर से उठ गए। विमला ने किसी को रोका नहीं। उसकी मानसिक स्थिति पागलों से भी खराब थी। उसने राखियों को उठा कर दूर फेंक दिया। फल और मिठाई उठा कर नौकरों को दे दी, माला को मसल कर दूर फेंक कर, वह खाट

पर गिर पड़ी और फूट फूट कर रोने लगी। अखिल का पवित्र प्रेम, उनका मधुर व्यवहार, उन दो नंहे नंहे अबोध बच्चों के द्वारा राखी का अभिनय, एक एक करके अतीत की सब स्मृतियां, उसके सामने साकार बन कर खड़ी हो गईं।

आज उसकी वही स्नेह ही लता, जिसे दो नंहे नंहे अबोध बालकों ने अपनी पवित्रता पर आरोपित किया था, जिसे दो तरुण हृदयों ने अपनी दृढ़ता से मज़बूत बनाया था, एक मिथ्या सन्देह के आधार पर, किस निर्दयता से कुचली जा रही थी। विमला कांप उठी। वह पलंग पर उठ कर बैठ गई और अपने आप ही बोल उठी—

"हे ईश्वर! तू साक्षी है। यदि मैं अपने पथ से ज़रा भी विचलित होऊं, तो मुझे कड़ी से कड़ी सज़ा देना। पतिव्रत धर्म, स्त्री का धर्म, तो यही है न? कि पति की उचित, अनुचित आज्ञाओं का चुपचाप पालन किया जाय। वह मैं कर रही हूं विधाता! पर इतने पर भी यदि मेरी दुर्बल आत्मा अपने किसी आत्मीय के लिए पुकार उठे तो मुझे अपराधिनी न प्रमाणित करना"।

इसी समय उसकी मां की भेजी हुई मिश्रानी, फल, मिठाई और मेवा इत्यादि लेकर आई। विमला भरी तो बैठी ही थी; मिश्रानी को देखते ही बरस पड़ी।

उसने क्रोध-भरे स्वर में कहा—

मिश्रानी, यह सब क्यों ले आई हो? ले जाओ; मैं क्या करूंगी लेकर? मां से कहना मेरे लिये कुछ भेजा न करें; समझ लें आज से बिन्नो मर गई।

मिश्रानी कुछ देर तक स्तम्भित सी खड़ी रही; उसकी समझ में न आया कि क्या करे। विमला को इस रूप में उसने कभी देखा न था, किन्तु इसी समय विमला की दूसरी डांट से मिश्रानी की चेतना जाग्रत हो उठी। विमला ने अपना क्रोध फिर उसी पर उतारा, बोली—

"जाती हो कि खड़ी ही रहोगी" ?

बेचारी मिश्रानी को कुछ कहने का साहस न हुआ; डरते डरते थाली वहीं मेज पर धीरे से रख कर वह जाने लगी। इसी समय विमला ने फिर पुकारा—

"यह थाली उठाके लिए जाओ मिश्रानी"।

मिश्रानी ने चुपचाप थाली उठाई और चली गई। विमला की मां से उसने जो कुछ देखा था कह दिया; साथ ही विमला के कहे हुए वाक्य भी दुहरा दिए। विमला की मां यह सब सुनकर घबरा उठीं। पुरानी प्रथा के अनुसार बेटी के देहली के भीतर पैर रखना अनुचित है, इसका उन्हें ख्याल न रहा। उसी समय वह कार पर बैठकर विमला के पास आईं। इस समय तक विमला रो-धो कर कुछ शान्त होकर बैठी थी। सोच रही थी कि नाहक ही मां के घर की चीजें वापस भेजीं। मिश्रानी से अनावश्यक बातें कह के बुरा ही किया। वह आखिर क्या समझें, समझें भी तो क्या कर सकती है? वह मां से कहेगी और मां को दुःख होगा। अगर बाबू को मालूम हुआ तो? अनन्तराम जी की वेदना के स्मरण मात्र से ही विमला फिर रो उठी। इसी समय उसकी मां ने

वहां प्रवेश किया। मां को देखते ही उसका-रहा सहा धीरज भी जाता रहा। मां से लिपट कर वह खूब रोई। मां बेटी दोनों बहुत देर तक बिना कुछ बोले-चाले रोती रहीं, अंत में कमला ने किसी प्रकार विमला को शान्त किया। मा के बहुत पूछने पर विमला ने मां से सब कु बतला दिया। इस बात से कमला को कष्ट न हुआ हो से बात नहीं थी, परन्तु विमला को वह किसी प्रकार शान्त करना चाहती थीं, इसलिये अपनी मार्मिक वेदना को हृदय में ही छिपा कर वह शान्त स्वर में विमला को समझाती हुई बोली—

"बेटी! विनोद की बातों का तुम्हें बुरा न मानना चाहिए। इतना तो समझा करो कि वह तुम्हें कितना अधिक प्यार करते हैं। तुम्हारे ऊपर यदि विनोद का इतना अधिक स्नेह न होता तो वह तुम्हारी इतनी नही नंही बातों को इतनी बारीकी से देखते भी ता नहीं"।

मा की बातों से विमला को कुछ सान्त्वना मिली हो चाहे नहीं, पर वह कुछ बोली नहीं। बहुत रात तक विनोद की प्रतीक्षा करने पर भी जब विनोद न लौटे तो कमला विमला को समझा बुझा कर अपने घर चली आई।

विनाद अखिलश के घर चले गये थे, इसलिए उन्हें घर लौटने में कुछ देरी हागई। जब विनोद अकेले ही अखिलश के घर पहुचे तो वह कुछ चकित से हुए परन्तु विमला के विषय म स्वयं वह कुछ पूछ न सके, विनोद को ही यह विषय छेड़ना पड़ा। रात को बहुत सी बातें तो विनाद के ही द्वारा उन्हें मालूम हा चुकी थीं। दूसरे

दिन विमला की मां से उन्हें और भी बहुत सी बातें मालूम हुईं, अखिलेश कुछ विचलित से हो उठे। उन्हें अपने ही ऊपर क्रोध आया। उन्होंने सोचा—

मैं भी क्या व्यक्ति हूं जिसके कारण एक सुखी दम्पति का जीवन दुखी हुआ जा रहा है। उन्हें कोई प्रतीकार न सूझ पड़ा और अन्त में वह एक निश्चय पर पहुंचे। इधर कुछ दिनों से वह यहीं कालेज में प्रोफेसर हो गए थे। उन्होंने एक पत्र कालेज के प्रिंसपल के लिये लिखा और दूसरा लिखा विनोद के लिये। कालेज का पत्र उसी समय कालेज भेज कर, दूसरा पत्र नोकर को देकर समझा दिया कि शाम को वह विनोद को दे आवे। नौकर बाजार गया था, रास्ते में विनोद से उसकी भेंट हुई; सोचा, कि शाम को फिर इतनी दूर आने का झगडा कौन रखे, यह मिल गये हैं तो पत्र यहीं देदूं। चिट्ठी निकाल कर विनोद को देकर वह आगे निकल गया। पत्र पढ़ते ही विनोद घबरा गये। रात से विमला की तबीयत खराब थी। वह डाक्टर बुलाने आए थे, अब उन्हें डाक्टर की याद न रही। वह सीधे अखिलेश के घर की तरफ दौड़े। अखिलेश घर न मिले तो उन्हें देखने कालेज गये, किन्तु वहां अखिलेश तो न मिले, हां, हर एक की जबान पर, बिना किसी कारण ही दिए हुए, अखिलेश के इस्तीफे की चर्चा अवश्य सुनने को मिली। विनोद ने आकर प्रिंसपल से अखिलेश का इस्तीफा वापस लिया और उनसे कहा कि अखिलेश से मिल कर वह इस्तीफे के विषय में अन्तिम सूचना देंगे। जब तक विनोद से उन्हें कोई सूचना न मिले तब तक वह इस्तीफे पर किसी प्रकार का निर्णय न करें। वहां से वह फिर अखिलेश के घर आए। दरवाजे

पर एक टांगा खड़ा था जिस पर अखिलेश का एक बैग और बिस्तर रखा था। विनोद के पहुँचने से पहले ही अखिलेश आकर टांगे पर बैठ गये। उसी समय पहुंचे विनोद; साइकिल वहीं फेंक कर वह भी अखिलेश की बगल में जा बैठे और सजल आखों से बोले—

"चलो, कहां चलते हो अखिल! मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूं"।

अखिलेश की भी आख भर आई। वे कुछ क्षण तक कुछ बोल न सके, अन्त में, वे किसी प्रकार अपने को सम्हाल कर बोले—

"तुम पागल हो विनोद। तुम्हें मेरे साथ चलने की क्या जरूरत है"।

"जरूरत? ठहरो तुम्हें अभी बतला दूंगा। पर तुम यह समझ लो कि मैं तुम्हारा साथ स्वर्ग और नर्क तक भी न छोड़ूंगा। यह देखो तुम्हारा इस्तीफा है"-कहते हुए विनोद ने जेब से अखिलेश का लिखा हुआ इस्तीफा निकाल कर टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया और टांगा अपने मकान की तरफ मुड़वा लिया।

नौकर ने अखिलेश का सामान विनोद के आदेशानुसार विनोद के कमरे में ही ले जाकर रखा। विमला समझ न सकी कि विनोद का ऐसा कौनसा आत्मीय आया है जो इन्हीं के कमरे में ठहराया जायगा? इसी समय सीढियों पर से विनोद ने आवाज़ दी

"विन्नो! यह डाकूर आया है"।

[७]

अंगूठी की खोज

अंगूठी की खोज

[१]

चैती पूर्णिमा ने संध्या होते होते, धरित्री को दूध से नहला दिया। वसन्ती हवा के मधुर स्पर्श से सारा संसार एक प्रकार के सुख की आत्म-विस्मृति में बेसुध सा हो गया। आम की किसी डाल पर छिपी हुई मतवाली कोयल, पंचम स्वर में किसी मादक रागिनी को आलाप उठी। वृक्षों के झुरमुट के साथ चांदनी के टुकड़े अठखेलियां करने लगे; परन्तु मेरे जीवन में न सुख था और न शान्ति। इस समय भी, जब कि संसार के सभी प्राणी आनन्द-विभोर हो रहे थे, मैं कम्पनी बाग के एक कोने में हरी-हरी दूब पर पड़ा हुआ अपने जीवन की विषमताओं पर विचार कर रहा था। पेड़ की पत्तियों से छन-छन कर

नन्हें-नन्हें चांदनी के टुकड़े जैसे मुझे बरबस छेड़ से रहे थे। मैंने आंखें बन्द करलीं; किन्तु फिर भी किसी प्रकार की शान्ति लाभ न कर सका। आज मैं बहुत दुखी था। वैसे बात थी तो बहुत छोटी; किन्तु पके हुए घाव पर एक मामूली से तिनके का छू जाना ही बहुत है। छोटी सी बात पर ही मेरे हृदय में कितनी भीषण हलचल मची हुई थी, उसे मेरे सिवा कौन जान सकता था।

इसी समय, कुछ युवतियां; मेरे पास से ही निकलीं। उनके पैरों के लच्छे और स्लीपरों की ध्वनि मैंने साफ साफ सुनी। वे लोग आपस में हंसती, खिलखिलाती, और बातें करती हुई चली जारही थीं। ऐसा लगता था कि जैसे सांसारिक चिन्ताओं को इनके पास तक पहुँचने का साहस ही नहीं होता। परन्तु मुझे उनसे क्या प्रयोजन? मैंने तो उनकी ओर आंख उठा कर देखा भी नहीं। देख कर करता भी क्या? व्यर्थ ही हृदय में एक प्रकार की टीस उठती। वेदना और बढ़ जाती। मेरे लिए तो कदाचित, विधाता ने अपने ही हाथों एक निरक्षरा, और बेढंगी प्रतिमा का, निर्माण किया था जो इच्छा न होने पर भी, बरबस मेरे जीवन के साथ बांध दी गई थी; जिसके सहवास से मेरा सुखी जीवन, मेरा आशावादी हृदय, कल्पना के पंखों द्वारा, ऊंची से ऊंची, उड़ान भरने वाला मेरा मन सभी दुख तथा घोर निराशा से न जाने कितनी भीषण वेदना का अनुभव कर रहे थे।

जिस दिन मैंने पहले पहल यशोदा को देखा, मैं कह नहीं सकता कि मेरी मानसिक स्थिति कितनी भयंकर थी। वह रात—मिलन की पहिली रात—सुहाग रात थी। और मैं—मैं घर से भाग कर इसी स्थान पर

रस से भी अधिक उद्विग्न और व्याकुल अवस्था में छटपटा रहा था। जीवन में मुझे उससे भी अधिक आत्म-ग्लानि और व्याकुलता का सामना करना था कदाचित, इसलिए न जाने किस प्रकार कुछ अभिन्न हृदय मित्रों को मेरी मानसिक स्थिति का पता लग गया। वे मेरे अभिन्न हृदय मित्र थे वे जानते थे कि मैं इस पीड़ा से मुक्ति पाने के लिये कड़ी से कड़ी विपत्तियों का भी झेल सकता हूं। इस लिए वह मुझे खोजते हुए आए, और मेरे साथ ही उन्होंने वहीं पर रात बिताई।

इसके बाद क्रमश: मेरी अवस्था कुछ सम्हली और बहुत कुछ तो मित्रों के आग्रह से, और कुछ कुछ किसी प्रकार जीवन के दिन काट देने के लिये मैंने यशोदा को शिक्षिता बनाना चाहा। किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। क, से कबूतर और ख, से खरगोश, इसके आगे यशोदा न पढ़ सकी। उसे पढ़ने लिखने की तरफ़ जैसे रुचि ही न थी। पढ़ने के लिए जब मैं, उससे प्रेममय अनुरोध करता तो वह प्रायः यही कह के टाल दिया करती कि—"अब मुझे पढ़ लिख के क्या करना है ? क्या नौकरी करवाओगे "?

अपने प्रश्नों के उत्तर में, इस प्रकार की बातें सुन कर मुझे कितनी मार्मिक पीड़ा होती थी; मेरा हृदय कितना विचलित हो उठता था। यशोदा न तो समझती थी, और न उसने कभी समझने का प्रयत्न ही किया। परिणाम यह हुआ कि मुझे घर से बिल्कुल विरक्ति हो गई। कोई भी आकर्षण शेष न रह जाने के कारण, मैं बहुत कम घर जाने लगा। महीने में एकाध बार ही मैं घर पर भोजन करता। यदि भोजन के समय किसी मित्र के घर होता तो उनके आग्रह में

वहीं, अन्यथा किसी होटल में मेरा प्रतिदिन का भोजन होता। प्रायः बहुत से दिन, तो चा के एक दो प्यालों पर ही बीत जाया करते। तात्पर्य यह कि मेरा स्नान, भोजन, सोना, जागना, सभी कुछ अनियमित था। नियमित रहता भी तो कैसे? मैं अपनी इस उठती जवानी में ही बुढ़ापे का अनुभव कर रहा था; जीवन मुझे भार सा प्रतीत होता, न किसी प्रकार की इच्छा शेष थी न आकांक्षा; न उत्साह था और न उमंग; जीवन को किसी प्रकार ढकेले लिए जाता था।

मैं स्वभाव से ही अध्ययनशील, विद्यानुरागी, स्वाभिमानी, भावुक और अल्पभाषी था। मैं अपने कुछ इने गिने मित्रों को छोड़ और अन्य लोगों से बहुत कम मिलता जुलता था। प्राय अपना अधिकांश समय अध्ययन में ही बिताया करता था। मेरी लायब्रेरी में संसार के प्रायः सभी विद्वान लेखकों की कृतियां आलमारियों में सजी थीं। उन्हें मैं अनेकों बार पढ़ कर भी फिर से पढ़ने का इच्छुक था। प्रायः लायब्रेरी में जब मैं पुस्तकों का अध्ययन करता होता और उनमें किसी सुशिक्षिता महिला के विषय में कोई प्रसंग आ जाता, तो कल्पना के उच्चतम शिखर से ही मैं भी अपनी जीवन-संगिनी का दर्शन करता; और वहां से मैं देखता मेरी प्रेयसी पढ़ने में, लिखने में, सामाजिक और सांसारिक प्रत्येक कार्यों में मेरी वैसी ही सहायक है जैसे पुस्तक लेखक की स्त्री, जिसका दर्शन मैं अभी पुस्तक के पृष्ठों पर कर चुका हूं। यही कारण था कि विवाह के बाद मुझे इतनी अधिक निराशा हुई। मैं कल्पना के जिस शिखर पर विचरण कर रहा था, वहां से एकदम नीचे गिर पड़ा।

यशोदा को पढ़ने लिखने की ओर से उतनी ही अरुचि थी, जितनी मेरी उस ओर रुचि थी। गृहस्थी के कामों में भी वह विशेष निपुण न थी। इसके अतिरिक्त *न उस में रूप था न आकर्षण और न बात चीत का ढंग ही* सुरुचि के अनुकूल था। उससे साधारण सी बात करते समय भी मैं प्रायः झल्ला उठता जिससे मुझे तो मानसिक कष्ट होता ही, साथ ही यशोदा को भी बिना कारण ही मेरी डांट सुननी पड़ती, और उसे भी कष्ट होता। इसी लिये मैंने घर का जाना बहुत कम करदिया था। प्रायः जब मैं पढ़ते पढ़ते थक जाता तब मित्रों के घर; और जब किसी कारणवश मित्र लोग भी घर पर न मिलते तब मुझे कम्पनी बाग के इसी कोने में हरी हरी दूब पर ही आश्रय मिलता था।

कभी कभी उसी दूब पर पड़े पड़े मैं कब सो जाता, पता नहीं। पक्षियों का कलरव सुन कर ही मेरी आंख खुलती। मेरे घर वाले मेरी इन बातों को बहुत अच्छी तरह जानते थे। अपने विवाह के बाद से मैं बहुत विद्रोही स्वभाव का हो उठा था। इस लिए न तो वे लोग मुझे खोजने का प्रयत्न करते, और न मेरी दिनचर्या या तपश्चर्या में ही बाधा डाल कर मुझे छेड़ते थे। वे जानते थे, कि यदि मुझे उन्होंने छेड़ा, तो इसका परिणाम किसी प्रकार भी अच्छा न हो कर, बुरा ही हो सकता है।

आज भी इसी प्रकार अपने जीवन से घबरा कर, न जाने किस विचार धारा में डूबा हुआ, मैं लान पर पड़ा था। वही युवतियां घूमती हुई फिर लौटीं, और मेरे पास ही पड़ी हुई बेंच पर बैठ गईं।

एक बोली—यहा तो कोई पडा है जी।

दूसरी ने कहा—ऊँह ! रहने भी दो पडा है तो हमारा क्या कर लेगा। आओ जरा बैठ लें फिर चलेंगे।

तीसरी उठ कर खडा हो गई। स्वर को कुछ धीमा कर के बोली—

"हमारा कर तो कुछ न लेगा। पर हमारी बात चीत की आजादी में ता बाधा आएगी। चलो, कहीं और बैठें। इतना बडा तो बगीचा पडा है। क्या यही जगह है ? वह उठी। उठ कर जाने लगी। एक दूसरी ने उसका हाथ पकड कर खींचा। उसे बैठालते हुए बोली—

"बैठो भी कहा जाओगी ? अब तो वह समय है, जब कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार दिये जाने की हर जगह चर्चा है। फिर उस अधिकार का हमीं क्यों न उपयोग करें ? विरले ही पुरुष स्त्रियों से ऐसे दूर दूर भागते होंगे। अन्यथा पुरुषों का तो स्वभाव होता है जहा स्त्रियों को देखा फिर चाहे काम हो चाहे न हो उस ओर जायगे अवश्य। यह रलवे स्टेशन का, स्नान घाटों का, सडकों और दुकानों पर का हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। यदि ठीक न कहती होऊं तो मेरी बात न मानो ! और तुम एक ऐसे व्यक्ति से, जिसके विषय में ठीक ठीक पता भी नहीं कि स्त्री है कि पुरुष, ऐसी दूर भागी जारही हो जैसे कोई सक्रामक बीमारी हो" कहते कहते उसने फिर उसका हाथ बैठालने के लिए खींचा। किन्तु वह बैठा तो नहीं, चिल्ला सी पडी—

"छोड दो सरला ! तुम्हारे खींचने से मेरी अंगूठी

गिर गई। एक तो वैसे ही में उसे कभी न पहिनती थी। आज ही पहिनी और आज हो गिर गई"।

बातचीत का प्रवाह बदल गया। सब की सब घबराकर खडी हो गई। यहा-वहा जहा गिरी थी, उससे बहुत दूर तक अगूठी की खोज होने लगी। वे लोग करीब १० मिनट तक, उठ कर, बैठ कर, झुक कर अगूठी खोजती रहीं, पर वह न मिली। उन में स एक ता मेरे बहुत पास तक आगई। मैं घबरा कर उठ बैठा। आशका हुई कि कहीं अगूठी का चोर में ही न समझा जाऊ। जी चाहा कि में भी उनकी अगूठी ढूढने लगूं। पर उनकी अगूठी बिना उनकी अनुमति के कैस ढूढता? मैं जानता था कि उनकी अगूठी खोई है फिर भी बात चीत का सिलसिला जारी करने के लिए उनके कुछ समीप पहुँच कर, कुछ सकोच के साथ मैंने पूछा—

"आप लोग क्या ढूढ रही ह क्या में आपकी कुछ सहायता कर सकता हूं"?

अगूठी की मालकिन बोल उठी—

"मरी अंगूठी गिर गई ह। बडी कीमती अगूठी है"।

इसके बाद में कुछ न बाला उन लागों के साथ उनकी अगूठी में भी ढूढने लगा परन्तु करीब आध घट तक ढूढने पर भी जब अगूठी कहीं न मिली, ता वे सब हताश हो गई। मुझे उनकी दशा पर बडी दया सी आई। मैंने अंगूठी की स्वामिनी से कहा—

"यदि आप मुझ पर विश्वास कर सकती हों ता, आप निश्चिन्त हाकर अपने घर जाइए। अब रात बहुत आ चुकी है कोई आदमी यहा आए गा नहीं। और मैं रात

भर यहीं रहूंगा। बड़े सबेरे से उठकर आपकी अंगूठी ढूंढ कर आपको दे आऊंगा' ! बस आप मुझे अपना पता भर बतला दें।

पहिले तो वह कुछ झिझकी। सिर से पैर तक उसने एक बार मुझे देखा, फिर न जाने क्या सोच कर बोली—

"मेरा नाम वृजांगना है मैं पं०"...... पास की दूसरी युवती ने उसके अधूरे वाक्य को पूरा किया—

"पं० नवलकिशोर जी की स्त्री हैं" वृजांगना फिर बोल उठी—

मेरा मकान नं० १५५ सिविल लाइन में है।

'वृजांगना' नाम सुनते ही मैं चौंक सा पड़ा। 'वृजांगना" क्या वही 'वृजांगना' जिसके विषय में मैं बहुत कुछ सुन चुका हूं। वही-वही चरित्रभ्रष्टा 'वृजांगना' हे ईश्वर! मैं सिहर उठा। मैं तो उसे देखना भी न चाहता था। किन्तु अब क्या करता? उसकी अंगूठी ढूंढ देने का वचन दे चुका था। और वचन देने के बाद, पीछे हटना मैं ने सीखा ही न था। अतएव अब मुक्ति का कोई साधन न देखकर मैं चुप ही रहा।

पास ही खड़ी हुई दूसरी युवती ने प्रश्न किया—

"आप रात भर यहीं रहें गे क्या घर न जांय गे"?

मेरे मुंह से अचानक निकल गया—

"घर? मेरा घर कहां है? जहां जाऊं? यह बात न जाने किस धुन में मैं कह तो गया किन्तु, कहने के साथ ही मुझे अफसोस भी हुआ कि आखिर यह बात इन से मैंने क्यों कही? मैं बिना घर का हूं या घर से बहुत विरक्त,

यह इन स्त्रियों के प्रति प्रगट करके, मैंने क्या इनसे किसी प्रकार की सहानुभूति पाने की आशा की थी ? किन्तु बहुत टटोलने पर भी अपने हृदय में, उन स्त्रियों से किसी प्रकार की सहानुभूति प्राप्त करने की लालसा मुझे न मिली। अचानक इसी समय कहीं से मन्दाकिनी आकर बोल उठी—

"ओहो! योगेश भैय्या! तुम बिना घर के कब से हो गये? अच्छी बात है! मैं आकर भाभी से पूछूँगी कि क्या भैय्या को घर से निकाल दिया है?"

मन्दाकिनी की बात का कुछ उत्तर न देकर मैंने दृढ़ और गंभीर स्वर में व्रजांगना से कहा—

"मैंने आप से अभी कहा न कि मैं आप की अंगूठी कल सवेरे ढूंढ कर दे दूँगा और उस अंगूठी के लिए मैं रात भर यहाँ रहूँगा भी! यदि आप को मेरी बात पर विश्वास हो तो आप निश्चिन्त होकर घर जाइए। अंगूठी आपको सवेरे मिल जायगी"।

व्रजांगना ने निश्चिन्तता की सांस ली। इस समय वह अधिक सन्तुष्ट जान पड़ती थी क्योंकि मुझे मन्दाकिनी भी पहिचानती थी। मन्दाकिनी फिर बोली

"योगेश भैया! तुम्हारे दृढ़-निश्चयी स्वभाव को कौन नहीं जानता? तुमने जब ढूंढ देने की जिम्मेदारी ली है तब बिरजो भाभी को अंगूठी मिले बिना न रहेगी"।

व्रजांगना ने फिर मुझ पर एक विनय-पूर्ण दृष्टि डाली, और वह उन सब स्त्रियों के साथ चली गई। उस

दृष्टि में जैसे उसने कहा कि मेरी अगूठी न भूलना, जरूर ढूढ देना।

[२]

उसी बेंच पर पडे-पडे मैंने रात काट दी। सवेरे चिडियों के चहचहाने के साथ ही उठ बैठा। अभी पूरा-पूरा प्रकाश भी नहीं हो पाया था, मैंने उत्सुक आंखों को एक बार चारों तरफ अंगूठी के लिए घुमाया। किन्तु वह कहीं न दिखी। फिर मैंने झुक कर बेंच के नीचे देखा। नन्ही सी अगूठी जिसमें एक कीमती बडा सा हीरा चमक रहा था, बेंच के पाए से सटी पडी थी। मैंने झुक कर अगूठी उठाली। प्रयत्न करने पर भी वह मेरी सब से छोटी उंगली में भी न आई। तब मैंने उसें जेब में रख कर नल पर जा कर हाथ मुँह धोया और फिर सिविल लाइन की ओर चल पडा। बगला ढूढने में मुझे विशेष प्रयत्न न करना पडा, क्योंकि मजांगना और उसके पति प० नवलकिशोर जी दोनों ही नगर के लब्ध प्रतिष्ठ व्यक्तियों में से थे। चपरासी से मैंने अपना कार्ड अन्दर भिजवाया, जिसके उत्तर में स्वयं व्रजांगना आती हुई दिखी। और उस सादी सरलता की प्रतिमा मजांगना के प्रथम-दर्शन में ही मैं उसका भक्त हो गया। वह मुझे बड़े आदर और प्रेम के साथ ड्राइंग रूम में ले गई। टेबिल के पास बैठे हुए उसके पति अखबार पढ रहे थे। उसने अन्दर जाते ही अपने पति का मुझसे परिचय कराया। फिर मेरी ओर देखकर उसने पति से कहा—

'इनके विषय में तो मैं अधिक नहीं जानती। पर हां, इतना जानती हूँ कि कल आपने मेरे साथ अत्यन्त सज्जनता

पूर्ण बर्ताव किया है। आप का पूरा नाम तो अभी कार्ड पर ही देखा।" इस के बाद व्रजांगना ने अपने पति से शाम के समय का अंगूठी के खोने का, सारा किस्सा पति से कह दिया। मैंने जेब से अंगूठी निकाल कर धीरे से व्रजांगना के सामने रख दी। अंगूठी पाकर वह कितनी प्रसन्न थी, यह उसकी कृतज्ञता भरी आँखों और उल्लास भरे चहरे से ही प्रगट हो रहा था। पं० नवलकिशोर जी के चेहरे पर कुछ अधिक भाव परिवर्तन न हुआ। वह केवल ज़रासा मुस्करा कर बोले—

"और यदि यह अंगूठी न लाते तब क्या करतीं बिरजो?"

व्रजांगना ने विश्वास-सूचक स्वर में कहा—

"लाते कैसे नहीं? अंगूठी तो मैंने इन्हीं के ऊपर छोड़ी थी न? सबके भरोसे थोड़े मैं अपनी यह अंगूठी छोड़ आती"?

नवलकिशोर थोड़ा फिर मुस्कराए। हँसी तो कुछ मुझे भी आई। परन्तु यह सोचकर कि प्रथम परिचय में ही हँसने की स्वतंत्रता लेना कहीं मेरे पक्ष में अशिष्टता न समझी जाय मैंने अपनी हँसी को रोक लिया; पर एक प्रश्न मेरे मस्तिष्क में बार-बार घूमने लगा आखिर बिना परिचय के और बिना जान पहिचान के व्रजांगना ने मुझ में कौन सी ऐसी बात देखी जो वह मुझ पर इतना विश्वास कर बैठी? चेहरे से मैं नवलकिशोर को पहिचानता था, और वह मुझे, परन्तु हमारा आपस में परिचय न था। उस दिन इस प्रकार उस अंगूठी ने हमारा आपस में परिचय कराया। उनके आग्रह से उस दिन मैंने उन्हीं लोगों के साथ चाय ली और उनके अनुरोध से कभी कभी उनके घर आने जाने भी लगा।

कुछ दिन उन लोगों के यहाँ आने जाने के बाद, मैंने

अनुभव किया, वे पति पत्नी दोनों मिलनसार, हँसमुख, सीधे-सच्चे और सरल स्वभाव के व्यक्ति हैं। व्रजांगना के विषय में मैंने जितनी तरह की बातें सुन रक्खी थीं वे मुझे सभी निर्मूल और अनगल प्रतीत हुईं। व्रजांगना के हृदय की महानता और उसके सद् व्यवहारों ने मेरे हृदय में उनके प्रति श्रद्धा और विश्वास के ही भाव जाग्रत किए। उन दोनों पति-पत्नी का रहन सहन, बात-व्यवहार को देखते हुए किसी प्रकार के सन्देह के लिए कोई स्थान न रह जाता था।

व्रजांगना सीधी, भोली और उदार प्रकृति की स्त्री थी। उनके उस छोटे से घर में प्रेम, विश्वास, आदर और आनन्द का ही आधिपत्य था। घृणा, अपमान, ईर्षा और डाह का वहाँ तक प्रवेश ही न हो पाता था। व्रजांगना की यह धारणा थी कि अपने घर में आया हुआ शत्रु भी अपना अतिथि हो जाता है, और अतिथि का अपमान करना उसकी दृष्टि में बड़ा ही निन्दनीय काम था। इसलिए अपने घर में आए हुए उन व्यक्तियों के साथ भी जिनके प्रति व्रजांगना के हृदय में किसी प्रकार की श्रद्धा या आदर के भाव न होते थे, वह केवल आदर युक्त मधुर व्यवहार ही करती थी। उसके घर में आया हुआ कोई भी व्यक्ति बिना जलपान के यदाचित ही वापिस जाता था। वह बुरे मनुष्यों से घृणा न कर के उनकी बुराइयों से घृणा करती थी और भरसक उन्हें किसी प्रकार उन बुराइयों से बचाने का प्रयत्न भी करती। वह संसार के छल प्रपञ्चों से परिचित न थी। उसके सामने भगवान बुद्ध और महात्मा ईसा के महान आदर्श थे जिनके अनुसार चल कर इस छोटी सी जिन्दगी में वह लोगों के साथ केवल कुछ भलाई ही कर

जाना चाहती थी। इसीलिए उसे बहुत कम लोग समझ पाते थे। उसे तो वही समझ सकता था जो उसके पास-बहुत पास, पहुँचकर उसे देखे। दूर से देखने वालों के लिए तो ब्रजागना एक पहेली और बड़ी जटिल पहेली थी, जिसे हल करना कोई साधारण बात न थी। मैं ब्रजागना के जीवन के साथ बहुत घुल मिल गया था। मैंने उसे अच्छी तरह देखा और भली भांति पहिचाना था। ब्रजागना मानवी नहीं देवी थी, जिसे कदाचित् देवी अभिशाप के ही कारण कुछ दिनों के लिए मानव-जन्म धारण करना पड़ा था।

धीरे-धीरे हमारा मेल-जोल बहुत बढ़ गया। अब मेरे अभिन्न हृदय मित्रों में से यदि कोई मेरे बहुत समीप था, तो वह थी ब्रजागना। अपने सच्चे स्नेह और आदर से वृजागना ने मुझे इस तरह बाँध लिया था कि मैं उसके छोटे-छोटे आग्रह और अनुरोध को भी न टाल सकता था। अब उसके अनुरोध से मेरे सभी काम नियमित रूप से होने लगे। उसके सरल प्रेम ने मुझ में नवस्फूर्ति फूंक दी। मैं अपने आप में नए जीवन का अनुभव करने लगा। मुझे ऐसा लगता था कि जैसे मैंने अभी अभी संसार में प्रवेश किया हो।

[२]

मनुष्य में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक तो देव प्रवृत्ति और दूसरी राक्षसी। न जाने क्यों ब्रजागना को देखते ही मेरी देव प्रवृत्ति किधर अन्तर्हित हो जाती और राक्षसी प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठती कि उसे रोकना मेरे लिए बहुत कठिन होजाता। ब्रजागना को देखते ही मेरा ज्ञान, मेरा विवेक और मेरी बुद्धि जैसे सभी मेरा साथ छोड़ देते थे। इस के लिये मैं अपने आप को न जाने कितना

धिक्कारता था। नवलकिशोर को भैया और व्रजागना को भाभी कहा करता था। सचमुच ही उनके प्रति मेरे हृदय में यही पूज्य भाव थे। एकान्त में इस दलील को सामने रख कर मैंने अपनी इन राक्षसी प्रवृत्तियों को कुचल डालने का न जाने कितना प्रयत्न किया। मैं चरित्र हीन न था, पराई स्त्री-विवाहिता स्त्री मेरे लिये देवी की तरह पूज्य और आदर की वस्तु थी। व्रजागना को भी मैं इसी पूज्य दृष्टि से देखा करता था। उसके लिए मेरे हृदय में बड़े पवित्र और आदर के भाव थे, किन्तु यह पवित्र भाव उसी समय तक टिक सकते जब तक वह मेरे सामने न होती। व्रजागना जैसे ही मेरे सामने आती मुझ पर न जाने कहाँ का राक्षस सवार हो जाता? मैं एक ज्ञानहीन पशु से भी गया बीता बन जाता। मैं अपनी ही आखों में बड़ा पतित जंचने लगता। पर मेरा हृदय मेरे काबू से बाहर था। मेरी दोनों प्रवृतियों का आपस में युद्ध सा छिड़ा रहता। कभी २ तो मैं बड़ा ही उद्विग्न और व्यथित सा हो जाता। मेरी इस विचलित अवस्था को व्रजागना और नवलकिशोर देखते परन्तु मेरी मानसिक स्थिति को वह क्या समझ सकते थे? वे अपने प्रयत्न भर सदा हर प्रकार से मुझे खुश रखने की ही फिकर में रहते। उनका व्यवहार मेरे प्रति मधुरतर और प्रेमपूर्ण हो जाता था।

अपनी इस दानवी प्रवृत्ति को हर प्रकार से दबानेकेलिए मैंने कई बार निश्चय किया कि मैं उन के घर ही न जाया करूँ और इस उपाय में मैं कई बार कई अंशों तक सफल भी हुआ। परन्तु मेरे ही न जाने से क्या हो सकता था? कई बार ऐसा हुआ जब कि मैं सुबह से शाम तक उन के घर नहीं गया तब प्राय व्रजांगना या नवलकिशोर अथवा कभी कभी दोनों ही मेरे घर पहुच जाते; मेरा किया-कराया निश्चय मिट्टी में मिल

जाता। उनके आग्रह और विशेष कर व्रजांगना के प्रेम पूर्ण अनुरोध को टालने की मुझ में शक्ति न थी। विवश हो कर मुझे उनके साथ फिर आना पड़ता। देवी व्रजांगना और साधु-प्रकृति नवलकिशोर मेरे इन कुत्सित मनोभावों से परिचित न थे। मेरी दानवी प्रवृत्तियां कितनी भीषण, कितनी भयंकर और कितनी प्रबल हैं, मैं स्वयं भी तो न जानता था। परन्तु उन्हें कुचलने के लिए उनसे मुक्ति पाने के लिए जो कुछ भी किया जा सकता था, मैंने सब कुछ किया।

साल भर बाद—

वही चैती पूर्णिमा थी और वही संध्या का समय, वही मन को फिसलाने वाली चांदनी रात, और थी वही वासन्ती हवा, आज फिर मैं बहुत उद्विग्न था। न जाने क्यों किसी मित्र का भी साथ न मिला और मैं घूमता हुआ कम्पनी बाग के उसी कोने में पहुंच गया। मेरी चिर परिचित बेंच कदाचित् मेरी ही प्रतीक्षा कर रही थी। मैं उस पर गिर सा पड़ा और क्षण भर के लिये मैंने उसी शान्ति का अनुभव किया जो बालक माता की गोद में पाता है। क्षण भर बाद ही, साल भर पहले की एक एक स्मृति सिनेमा के चित्र पट की तरह मेरी आंखों के सामने फिरने लगी। इसी जगह हरी दूब पर व्याकुलता से मेरा लेटना, घूमती हुई रमणियों का आना, अंगूठी का गिरना, और फिर उसकी खोज। मुझे याद आया, उस दिन भी मैं बहुत विकल था-संसार से विरक्त और जीवन से थका हुआ। आज मैं बहुत अंशो में संसार में अनुरक्त था, परन्तु शान्ति जीवन में आज भी न थी। साल भर पहले की उस अशान्ति से आज की अशान्ति कहीं अधिक उद्वेगपूर्ण, भीषण और प्रलयंकरी थी।

इस अशान्ति में मैं जला जा रहा था। मुक्ति का मार्ग ढूंढे भी न मिल रहा था। अन्त में बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद, मैं इस निर्णय पर पहुंचा कि मुझे यह नगर छोड़ देना चाहिए। नगर छोड़ने का पक्का निश्चय करके मैंने एक प्रकार की शान्ति सी पाई

नवल किशोर बाहर गए थे। अपने घर की और व्रजांगना की देख-भाल वे मेरे ही ऊपर छोड़ गए थे। नगर छोड़ने से पहले ५ मिनट के लिए व्रजांगना से मिल लेना शायद अनुचित न होगा यही सोचकर मैं उनके मकान की तरफ चला। साथ ही मुझे यह भी जानना था कि नवल किशोर कब लौटने वाले हैं। जब मैं उसके घर पहुंचा करीब आठ बज रहे थे। वह सबसे ऊपर वाली छत पर एक कालीन डाले पड़ी थी। मुझे देखते ही उठ कर बैठ गई। मैं उसके घर आज कई दिनों में आया था। वह कुछ नाराजी के साथ अधिकारपूर्ण स्वर में किन्तु मुस्कुराती हुई बोली—

"तुमने तो आना ही छोड़ दिया है योगेश? क्या किया करते हो? ये घर नहीं हैं तो क्या तुम्हें भी न आना चाहिए?

मैंने उसकी बात का कुछ उत्तर न देते हुए पूछा—

"नवल भय्या कब आँयगे विरजो?"

"कल सबेरे चार बजे की गाड़ी से" वह प्रसन्न होती हुई बोली।

मैंने एक निश्चिन्तता की सांस ली। मैं सुबह यहां से जाऊंगा। उस समय तक नवल किशोर आ जायंगे। विरजो अकेली न पड़ेगी। इससे मुझे प्रसन्नता ही हुई। पास ही

आप हुए कई दिन के 'लीडर' पड़े थे जिनसे विरजो को विशेष प्रेम न था, अतएव वह खोले भी न गये थे। मैंने तारीख वार उन्हें देखना शुरू किया। मुझे पढ़ते देख व्रजागना फिर कुछ न बोली। वह मेरे स्वभाव से भली भाँति परिचित थी; अतएव पढ़ने लिखने के समय वह मुझ से कभी किसी प्रकार की बात चीत न करती थी कुछ देर बाद मेरी तन्द्रा सी टूटी। घड़ी पर नजर पड़ते ही देखा कि काफी रात बीत चुकी है। मैं तो केवल ५ मिनट के लिये आया था।

' व्रजागना सो चुकी थी। काले कालीन पर उसका मुह पृथ्वी पर एक दूसरा पूर्णिमा का चाद सा दिख रहा था। उसे मैं क्षण भर तक देखता रहा। मेरा विवेक, मेरा ज्ञान, मेरी बुद्धि जाने कहा अन्तर्हित होगई। मैं अपने आपे मे न रहगया।

× × ×

आज उसकी स्मृति ही सौ सौ बिच्छुओं के दंशन से भी अधिक पीड़ा पहुँचा रही है किन्तु उस समय तो मैं शायद बेहोश था। मुझे तो होश उस समय आया जब मैंने व्रजागना को फूट फूट कर रोते देखा। मुझे याद है उसके यही शब्द थे "तुमने तो मुझे कहीं का न रक्खा योगेश !" सचमुच मैंने घोरतर पाप किया था जिसका प्रायश्चित्त कदाचित हो ही नहीं सकता था। मुझसे अधिक पापात्मा संसार में भला कौन हो सकता था ? मैं था विश्वासघाती, नीच और परस्त्री-गामी। अपना कालिमा से पुता हुआ मुँह फिर मैं व्रजागना को न दिखा सका। चुपचाप उठा और उठ कर सीढ़ियों से नीचे उतर कर अपने घर आया। उस दिन मैं फिर रात भर सो भी न सका। अपने दुष्कृत्य पर मैं कितना

लज्जित कितना क्षुभित और कितना क्रोधित था मैं कह नहीं सकता। बार २ यही सोचता था कि आखिर में कई बार मरते २ क्या इसी कलुषित कार्य को करने के लिये बच गया। यदि पहिले ही मर चुका होता तो यह अनर्थ होता ही क्यों?

-यों त्यों करके रात काटी। अभी पूरा प्रकाश भी न हो पाया था कि स्त्री से यह कह के कि मैं एक आवश्यक कार्य से कुछ दिनों के लिये बाहर जारहा हू। अपना थोडा सा जरूरी सामान लेकर घर से निकला, कहा जाने के लिये? कह नहीं सकता, किन्तु जाना चाहता था दूर— संसार से बहुत दूर जहा से किसी भले आदमी पर मुझ पापी की छाया भी न पड सके। किन्तु घर से निकलकर अभी दस कदम भी न चल पाया था कि नवल किशोर का नौकर शाघ्रता से आता हुआ दिखा। किसी अज्ञात आशका से मैं कांप सा उठा, किन्तु फिर भी मैंने जैसे उसे देखा ही न हो, इस भाव से तेजी से कदम बढाये। नौकर ने मुझे पुकार कर कहा, उसकी आवाज भारी और स्वर दुःख पूर्ण था।

'ठहरो भैया! कहा जाते हो? तुम्हें बाबू जी ने जल्दी बुलाया है। मेरे पैरों के नीचे से जैसे धरती खिसक गई। नवल ने आते ही मुझे क्यों बुलाया? तो क्या व्रजागना ने उनके आते ही ..... मेरी समझ में कुछ न आया फिर भी अपने को बहुत सम्हाल कर मैंने भीखू से पूछा—

इसी समय बुलाया है क्या कोई बहुत ज़रूरी काम है? बूढा नौकर रो पडा। रोते रोते बोला—

जरूरी काम क्या है भैया, बहू जी की तबियत बहुत

गाफ़िल है। संभा को अच्छी भली सोई थीं और अब तो भगवान जो उठाके खडी करे तो खडी हों। नहीं तो कुछ आशा नहीं दिखती।

मुझे चक्कर-सा आने लगा। भीखू के साथ उसी समय नवल के घर की ओर चला; रात जिस घर में फिर कभी न जाने की प्रतिज्ञा करके निकला था उसी घर की ओर फिर विक्षिप्तों की तरह चल पडा। आह! किन्तु वहाँ तो मेरे पहुँचने के पहले ही सब कुछ समाप्त हो चुका था नवलकिशोर बच्चों की तरह फूट फूट कर रो रहे थे।

× × ×

उसका कचनसा शरीर चिता पर धर दिया गया। आग लगा दी गई और वह धूधू करके जल उठी। हमारे देखते ही देखते उसका सोने का शरीर राख में मिल गया। इसी प्रकार मुझे भी जीता ही जला देना चाहिये। इस हरी भरी छोटी सी गृहस्थी को बीहड बनाने वाला नर-पिशाच तो में ही हूँ न में किस आग में जल रहा था इसे मेरे सिवा और कौन समझ सकता था?

सब लोगों के चले जाने के बाद बची खुची राख को समेट कर उसी समय मैंने वह नगर छोड दिया उसी राख को यहां रख कर मैंने उसकी समाधि बनाली है और न जाने कितनी चैती पूर्णिमा उस समाधि को पश्चात्ताप के आसुओं से धोते हुए मैंने बिता दी है। किन्तु पश्चात्ताप अभी तक पूरा नहीं हुआ। मैं रात दिन जलता हूँ। एक सुन्दर से फूल को धूल में मिलाने का पाप मेरे सिर पर सवार है।

[=]

चढ़ा-दिमाग

चढ़ा दिमाग

शीला स्वभावतः कवि थी। वह कभी-कभी कहानियां भी लिखा करती थी। उसकी रचनाएं अनेक पत्रों में छपीं और उनकी खूब प्रशंसा हुई। साहित्य-संसार ने उसे बहुत सम्मान दिया, और अंत में उसको सर्वश्रेष्ठ लेखिका होने के उपलक्ष्य में साहित्य-मंडल द्वारा सरस्वती-पारितोषिक दिया गया। अब क्या था, प्रत्येक समाचार-पत्र और मासिक पत्र में उसके सचित्र जीवन-चरित्र छपे और उसकी रचनाओं पर आलोचनात्मक लेख लिखे जाने लगे, जिनके कारण उसकी ख्याति और भी बढ़ गई। वह एक साधारण महिला से बहुत ऊपर पहुँच गई। उसको स्थान-स्थान से, कवि-समाजों से निमंत्रण आने लगे, वह अनेक साहित्यिक संस्थाओं की अध्यक्षा भी चुनी गई। मासिक-पत्र-पत्रिकाओं के कृपालु सम्पादकों ने उसको

रचनाओं के लिए तकाज़े-पर-तकाज़ आरम्भ कर दिए। अनेक सहृदय पाठकों ने परिचय प्राप्त करने के लिए उसको पत्र लिखे। परिणाम यह हुआ कि शीला के पास आनेवाली डाक का परिमाण बहुत बढ़ गया। उसका छोटा सा घर ऐसा मालूम होता, जैसे किसी समाचार-पत्र का आफ़िस हो। वह बेचारी इस असीम सहानुभूति के भार से दब-सी गई। पत्र-प्रेषक उससे उत्तर की आशा करते थे, और यह आशा स्वाभाविक भी थी। परन्तु वह उत्तर किस-किस को देती? आख़िर पत्र भेजने में भी तो ख़र्च लगता ही है; और वह तो निर्धन थी।

शीला के पति जेल में थे। सत्याग्रह-संग्राम प्रारंभ होते ही वह गिरफ्तार करके साल भर के लिए श्रीकृष्ण-मंदिर में बन्द कर दिए गए थे, साथ ही २००) जुर्माना भी हुआ था। इन सब कठिनाइयों को वह धैर्यपूर्वक सह रही थी। फिर भी वह बहुत परेशान-सी रहा करती थी।

× × ×

मैं शीला को बहुत दिनों से जानता था, जानता ही न था, वह सगी बहिन की तरह मुझ पर स्नेह करती थी और मैं अपनी ही बहिन की तरह उसका आदर करता था। इधर कुछ निजी झंझटों के कारण मैं बहुत दिनों से शीला के घर न जा सका था। एक दिन शाम को पोस्टमैन ने मुझे एक लिफ़ाफ़ा दिया। खोलकर देखा, तो पत्र मेरा नहीं, किन्तु शीला का था। 'कल्पलता' मासिक पत्रिका के सम्पादक महोदय ने बड़े आग्रह के साथ शीला को कोई रचना भेजने के लिए लिखा था। वह पत्रिका का कोई विशेषांक निकाल रहे थे। पत्र समाप्त करते-करते उन्होंने यह भी लिखा था कि

उसकी रचना के विना उनका विशेषांक अधूरा ही रह जायगा; उस जैसी विदुषियों के सहयोग से वह कल्पलता' के विशेषांक को सफल बना सकेंगे।

पत्र को उलट-पलट कर देखा, मालूम होता था, सम्पादक महोदय ने भूल से लिफ़ाफे पर मेरा पता लिख दिया था; क्योंकि मैं भी कभी-कभी 'कल्पलता' में अपनी तुकबन्दियाँ भेज दिया करता था।

जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, मैं बहुत दिनों से शीला के घर न जा सका था और अब अकस्मात् ही यह पत्र उसे देने का प्रसंग आ गया, इसलिये दूसरे ही दिन प्रातः काल मैं उसके घर गया।

शीला का घर छोटा-सा था; और गृहस्थी भी थोड़ी-सी। घर में कोई पुरुष नहीं था, उसकी बूढी सास थी और एक नन्हा-सा बच्चा था। ये शीला की ही संरक्षकता पर निर्भर थे। अपने पति की अनुपस्थिति में भी वह गृहस्थी को सुचारु रूप से चलाए जा रही थी। उसके इस असीम धैर्य और साहस की मैंने मन ही मन प्रशंसा की।

जब मैं वहाँ पहुँचा, वह आँगन में बैठी कुछ लिख रही थी। मैंने देखा, उसका छोटा सा बच्चा दौड़ता हुआ आया और किलकारी मार कर पीछे से उसकी पीठ पर चढ गया; साथ ही उसके लिखने में फुलस्टाप लग गया।

मैंने पूछा—क्या लिख रही हो?

"कल्पलता" के लिये एक कहानी लिख रही थी," वह मुस्कुरा कर बोली— "पर जब यह लिखने दे तब न?" उसने वाक्य को पूरा किया।

मैंने पूछा—'कितनी बाक़ी है !'

'कहानी तो पूरी हो गई; पर इसके साथ उन्हें एक पत्र भी तो लिखना पड़ेगा"—शीला ने कहा। मैंने उस कहानी को लेने के लिये हाथ बढ़ाया; पर वह मुझे बीच में ही रोक कर मुस्कुराती हुई बोली—'लो पहले इसे तो पढ़ लो फिर कहानी पढ़ना।"—कहते हुए उसने एक लिफ़ाफ़ा मेरी ओर बढ़ा दिया। लिफ़ाफ़े पर पता शीला का और पत्र मेरा था। 'कल्पलता' के सम्पादक महोदय ने मुझसे भी शीला की कोई रचना भिजवाने के लिए आग्रह किया था, साथ ही उलहना भी दिया था, कि उन्होंने शीला को कई पत्र लिखे; किन्तु उसने एक का भी उत्तर नहीं दिया; और अन्त में बहुत क्षुब्ध होकर उन्होंने लिखा था, 'इस चढ़े दिमाग का कुछ ठिकाना भी है !' मैंने पत्र समाप्त करके शीला की ओर देखा। वह मुस्कुरा रही थी; किन्तु उस मुस्कुराहट में ही उसकी आंतरिक वेदना छिपी थी; उसकी असमर्थता की सीमा निहित थी। कदाचित् उन्हें छिपाने के ही लिए प्रहरी की तरह मुस्कुराहट उसके ओठों पर खेल रही थी। कुछ क्षण तक चुप रहने के बाद मैंने पूछा—क्या लिखदूँ सम्पादकजी को ?

'लिखोगे क्या ? उन्हें यह कहानी भेज दो।'—उसने उसी मुस्कुराहट के साथ उत्तर दिया।

'पर उन्हें ऐसा न लिखना चाहिये था'।—मैंने सिर नीचा किये हुए ही कहा।

"उन्होंने कुछ अनुचित तो लिखा नहीं।'—उसने गंभीर होकर कहा 'कई पत्रों का लगातार उत्तर न पाने पर लोगों की यह धारणा हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। उनकी जगह

पर क्षण भर के लिये मुझे या स्वयं अपनेको समझ लो; फिर सोचो लगातार तीन-चार चिट्ठियां भेजने पर भी यदि कोई तुम्हें उत्तर न दे, तो फिर उसके बारे में क्या सोचोगे?—यही न कि बड़ा घमंडी है; चिट्ठियों का उत्तर नहीं देता।'

मैं निरुत्तर हो गया, दोनों चिट्ठियां मेरे हाथ में थीं। दोनों की तारीखें एक थीं। मैं समझ गया कि जल्दी जल्दी में सम्पादक महोदय ने मेरा पत्र शीला के लिफ़ाफ़े में और उसका मेरे लिफ़ाफ़े में रख दिया। मुझे कुछ हँसी आ गई। मैंने शीला का पत्र उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—'लो यह पत्र तुम्हारा है, मेरे पास उसी तरह चला आया, जिस तरह मेरा पत्र तुम्हारे पास आ गया है!,

वह पत्र पढ़ने लगी। मैंने उसकी कहानी उठा ली।

× × ×

इसी समय बाहर कुछ कोलाहल सुन पड़ा। मैंने बाहर आकर देखा; तहसील के दो चपरासी ऊँचे ऊँचे लट्ठ लिये खड़े थे। पूछने पर मालूम हुआ कि शीला के पति पर जो २००) का जुर्माना हुआ था उसे वसूल करने के लिए कुर्की आई है। मैंने उन्हें समझा-बुझा कर घर बिना कुर्क किये ही वापिस भेजने का प्रयत्न किया, पर वे भला क्यों मानने लगे। कदाचित् नगद नारायण से उनकी पूजा होती, तो देवता कुछ ठंडे पड़ जाते; पर वहां न तो शीला के ही पास कुछ था, और न मेरे। आखिर कुर्की शुरू हुई।

वे लोग घर के अन्दर से सामान ला-लाकर बाहर रखने लगे, बक्स, मेज, कुर्सियां आलमारी, तस्वीरें, बरतन इत्यादि। तात्पर्य यह कि जो कुछ भी सामान था, एक-एक करके सब बाहर आगया और सब चीजों की एक दुकान-

श्री लग गई। शीला शान्तिपूर्वक यह सब देख रही थी; किन्तु उस शान्ति के नीचे प्रचंड विषाद छिपा था। मुझसे उसके चेहरे की ओर नहीं देखा जाता था। मैं अपने भाईपन को मन-ही-मन धिक्कार रहा था। मेरे सामने ही मेरी बहिन की लुटिया-थाली नीलाम होने जा रही थी; किन्तु मैं कुछ कर न सकता था। ख़ैर, उन सब वस्तुओं की एक सूची तैयार करके चपरासी सामान ठेले पर लाद कर ले जाने लगे। सामान में बच्चों की एक ट्राइसिकल भी थी। शीला का बच्चा प्रजेश *'हमाली तायकिल'* कहके मचल पड़ा। *शीला* कुछ भी न कह सकी; बच्चे को जबरन गोद में उठा कर वह दूसरी ओर चली गई।

सामान चला गया। मैंने अन्दर जाकर देखा; वह बैठी बच्चे को कुछ खिला रही थी। उसने मेरी ओर देखा; उसकी आंखें सजल थीं। मैंने सांत्वना के स्वर में कहा, "बहिन, देशभक्तों की यही तो अग्नि परीक्षा है'।

थोड़ी देर बाद उसकी कहानी लेकर मैं घर लौटा।

घर आकर मैंने वह कहानी पढ़ी और उसी प्रकार 'कल्पलता' के सम्पादक के पास भेजदी।

कहानी का शीर्षक था, "चढ़ा दिमाग"।

[६]

वेश्या की लड़की

वेश्या की लड़की

(१)

छाया प्रमोद की सहपाठिनी थी। प्रमोद नगर के एक प्रतिष्ठित और कुलीन ब्राह्मण परिवार का लड़का था। और छाया—छाया थी नगर की एक प्रसिद्ध नर्तकी की एकलौती कन्या। नगर में एक बहुत बड़ा राधा-कृष्ण का मन्दिर था, जहां न जाने कितना सदाव्रत रोज बट जाता था; सैकड़ों साधू-संत मंदिर में पड़े २ भगवद् भजन करते; मनमाना भोजन करते और करते मनमाना अनाचार। छाया की मां इसी मन्दिर की प्रधान नर्तकी थी। मन्दिर को छोड़कर दूसरी जगह वह गाने-बजाने कभी न जाती थी। मन्दिर के प्रधान पुजारी की उस पर विशेष कृपा थी, इसलिए उसे किसी बात की कमी न थी। गंगा के किनारे उसकी विशाल कोठी थी, जहां से सदा संगीत की मधुर ध्वनि आया

करती। नगर के संगीत प्रेमी स्वयं ही उसके वहां पहुंच जाते, तब तो राजरानी उन्हें निराश न कर सकती; अन्यथा वह किसी के यहां बुलाने पर भी गाने के लिए नहीं जाती थी। छाया इसी राजरानी की एकलौती कन्या थी। राजरानी की सारी आशायें इसी कन्या के ऊपर अवलम्बित थीं। विद्याध्ययन की ओर छाया की अधिक रुचि देखकर राजरानी ने उसे स्कूल में भरती करवा दिया। छाया नगर के कुछ पुरानी प्रथा के अनुयायियों के विरोध करने पर भी कुलीन घर की लड़कियों के साथ पढ़ते-पढ़ते कालेज तक पहुच गई। और जिस दिन पहले-पहल वह कालेज पहुची, उसकी प्रमोद से पहचान हो गई। यह पहचान, पहचान ही बनकर न रह सकी; धीरे धीरे वह मित्रता में परिवर्तित हुई और अंत में उसने प्रणय का रूप धारण कर लिया; जिसका परिणाम यह हुआ कि परिवारवालों के विरोध, तिरस्कार और प्रतारणा न तो प्रमाद को ही उसके निश्चय से तिलभर हटा सके और न माता का निर्वासन-दंड ही छाया को उसके पथ से विचलित कर सका। विवाह के लिए उन्हें कोर्ट का सहारा लेना पड़ा। कोर्ट में रजिस्ट्री होने के बाद आर्य-समाज मन्दिर में उनका विवाह वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। अग्नि को साक्षी देकर वह दोनों पति-पत्नी के पवित्र बन्धन में बंध गये।

बचपन से ही कुलीन घर की लड़कियों के साथ मिलते जुलते रहने के कारण उनके रीति रिवाजों को देखते-देखते छाया के हृदय में एक कुल-वधू का जीवन बिताने की प्रबल उत्कंठा जाग्रत हो उठी थी। प्रमोद के साथ विवाह-सूत्र में बंधकर छाया ने उसी सुख का अनुभव किया।

वह एक कुल-वधू की ही तरह प्रमोद के इशारों पर नाचना चाहती थी। प्रमोद के नहा चुकने पर अपने हाथ से ही वह प्रमोद के कपड़े धोती, अभ्यस्त न होने पर भी दोनों समय प्रमोद के लिए वह अपने ही हाथ से भोजन बनाती; और थाली परसने के बाद जब तक प्रमोद भोजन करते वह उन्हें पंखा झला करती। प्रमोद के भोजन कर चुकने के बाद उनकी जूठी थाली में भोजन करने में वह एक अकथनीय सुख का अनुभव करती थी।

इसके पहले इस प्रकार काम करने का उसके जीवन में कभी अवसर न आया था; किन्तु धीरे-धीरे उसने अपने आपको ऐसा अभ्यस्त कर लिया कि उसे कोई काम करने में कठिनाई न पड़ती। राजरानी को पुत्री की परिस्थितियों का पता लगता ही रहता था। वह सोचती कि मेरे साथ रहकर छाया यहां रानियों की तरह हुकूमत कर सकती थी, बड़े-बड़े विद्वान, राजा, रईस तक यहां आके उसकी कदमबोसी कर जाया करते; किन्तु उसकी तो मति ही पलट गई है। अपने आपही उसने दासियों का सा जीवन स्वीकार कर लिया है। छाया को किसी प्रकार फिर से अपने चंगुल में फांस लेने के प्रयत्न में वह अब भी लगी रहती। वह सोचती ऐश-आराम में पली हुई लड़की कितने दिनों तक कष्ट का जीवन बिता सकेगी? कभी न कभी चेतेगी और आयेगी; किन्तु छाया! छाया तो माता के घर के ऐश आराम को घृणा की दृष्टि से देखती थी। यहां वह इस कष्ट में भी जिस सुख का अनुभव करती। उसकी आत्मा को जितनी शांति मिलती थी, उस रूप की हाट में उस वैभव की चकाचौंध में उसके शतांश का भी स्वप्न देखना छाया के लिये दुराशा मात्र थी। छाया प्रमोद के विशुद्ध और पवित्र,प्रेम के ऊपर संसार की सारी विभूतियों

को निछावर कर सकती थी। प्रमोद के साथ यह छोटा-सा मकान उसे नन्दन वन से भी अधिक सुहावना जान पड़ता था। सारांश यह कि छाया को कोई इच्छा न थी। प्रमोद का प्यार और उनके चरणों की सेवा का अधिकार पाकर वह सब कुछ पा चुकी थी।

प्रमोद के विवाह के बाद, प्रमोद के माता पिता ने उन्हें अपने परिवार में सम्मिलित नहीं किया। अपने एकलौते बेटे को त्याग देने में उन्हें कष्ट बहुत था किन्तु प्रमाद के इस कृत्य ने समाज में उनका सिर नीचा कर दिया था, अतएव वह प्रमोद को क्षमा न कर सके। स्वाभिमानी प्रमोद ने भी माता पिता से क्षमा की याचना न की, अपना समझ में उन्होंने कोई बुरा काम न किया था। इसलिए शहर में ही पिता के कई मकानों के रहते भी वह किराए के मकान में रहने लगे। परिवार और समाज ने प्रमोद को त्याग दिया था, किन्तु उनके कुछ अपने ऐसे मित्र थे जो उन्हें इस समय भी अपनाए हुए थे। अपने इस छोटे से, इने गिने मित्रों के संसार में, छाया के साथ रहकर प्रमोद को अब और किसी वस्तु की आवश्यकता न थी। आर्थिक कठिनाइयां कभी बाधा बन कर उनके इस सुख के सामने खड़ी हो जायगी प्रमोद को इसका ध्यान भी न था। कालेज के प्रोफेसरों और प्रिंसपाल की उनके साथ बड़ी सहानुभूति थी। उनका आचरण कालेज में बड़ा उज्वल रहा था और वह परीक्षाओं में सदा पहले ही आए थे। इसलिए वह थोड़ा ही प्रयत्न करने पर वहां प्रोफेसर हो सकते थे, परन्तु सुख की आत्म विस्मृति तक बाह्य आवश्यकताओं की पहुंच कहां? कालेज में एक हिन्दी के प्राफेसर का स्थान खाली भी हुआ; किन्तु प्रमोद अपने सुख में इतना भूल गये थे कि उन्हें और किसी

बात का स्मरण ही न रहा। उनके मित्रों और छाया ने एक-दो बार उनसे इस पद के लिए प्रयत्न करने के लिए कहा भी, किन्तु उनका यह उत्तर सुनकर "छाया क्यों मुझे अपने पास से दूर भगा देना चाहती हो" छाया चुप हो गई। उसे अधिक कहने का साहस न हुआ। वह प्रमोद के भावुक स्वभाव से भली भाँति परिचित थी। छोटी २ साधारण बातों का भी उनके हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था।

(२)

यौवन-जनित उन्माद और लालसाएं चिरस्थायी नहीं होतीं। इस उन्माद के नशे में जिसे हम प्रेम का नाम दे डालते हैं। वह वास्तव में प्रेम नहीं, किन्तु वासनाओं की प्यासमात्र है। लगातार छै महीने तक छाया के साथ रहकर अब प्रमोद की आखों में भी छाया के प्रेम और सौन्दर्य का वह महत्व न रह गया था जो पहिले था। अब वह नशा कहा था? उन्हें अब अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान था, उन्हें अब ऐसा जान पड़ता कि जैसे उन्होंने कोई बहुत बड़ी भूल कर डाली है। आर्थिक कठिनाइया भी उन्हें पद पद पर शूल की तरह कष्ट पहुचा रही थीं। इसके अतिरिक्त माता पिता के स्नेह का अभाव उन्हें अब बहुत खटक रहा था। उनका चित्त व्याकुल-सा रहता, बार-बार उस स्नेह की शीतल छाया में दौड़ कर शान्ति पाने के लिये उनका चित्त चंचल हो उठता। माता पिता के स्नेह में जो शीतलता, ममता का मधुर दुलार और जो एक प्रकार की अनुपम शान्ति मिलती है, वह उन्हें छाया के पास न मिलती। छाया के प्रेम में उन्हें सुख मिलता था पर शान्ति नहीं। स्नेह मिलता पर शीतलता नहीं। आनन्द मिलता पर तृप्ति नहीं।

हा, प्यास और तीव्र होती जान पडती। आनन्द और सुख से जलन की मात्रा ही अधिक मालूम होती। वह माता पिता के स्नेह के लिये अत्यधिक विकल रहते, किन्तु जब माता पिता ने ही उन्हें अपने प्रेम के पलने से उतारकर अलग कर दिया था तब स्वयं उनके पास जाकर उनसे उनके प्रेम और दया की भिक्षा मांगना प्रमोद के स्वाभिमानी स्वभाव के विरुद्ध था। प्रमोद का स्वास्थ्य भी अब पहले जैसा न रह गया था। दुश्चिन्ताओं और आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह बहुत कृश और विक्षिप्त से रहते। समाज में भी अब वह मान-प्रतिष्ठा न थी। हर स्थान पर उनके इसी विवाह की चर्चा सुनाई पडती। किसी को भी प्रमोद के केवल इस कार्य के साथ ही नहीं किन्तु स्वयं प्रमोद के साथ भी किसी प्रकार की कोई सहानुभूति न रह गई थी। सब लोग प्राय यही कहते कि "प्रमोद दो ही तीन साल के बाद अपने इस कृत्य पर पछतायगा।" "यह विवाह प्रमोद सरीखे विवेकी और विद्वान् युवक के अनुकूल नहीं हुआ"। "ठहरी तो आखिर वेश्या की ही लडकी न? कितने दिन तक साथ देगी? वेश्याए भी किसी की होकर रही हैं या यही रहेगी?" इस प्रकार न जाने कितने तरह के आक्षेप प्रमोद के सुनने में आते। इन सब बातों को सुन सुनकर प्रमोद की आत्मा विचलित-सी हो उठी उन्हें इन सब बातों का मूल कारण छाया ही जान पडती। वह सोचते, कहा से मेरी छाया से पहचान हुई? न उससे मेरी पहचान होती और न विपत्तियों का समूह इस प्रकार मुझ पर टूट पडता। वह अब छाया से कुछ खिचे खिचे से रहने लगे। उनके प्रेम में अपने आप शिथिलता आने लगी। छाया का मूल्य उनकी आखों में घटने लगा, पर प्रमोद स्वयं यह सब चाहते न थे। छाया में उन्हें वेश्या की लडकी होने के अतिरिक्त

और कोई अवगुण मिलता न था, किन्तु वह विवश। थे हृदय के ऊपर किसका वश चला है। वह अपने व्यवहार पर स्वयं ही कभी कभी दु:खित हो जाते; किन्तु फिर वही भूल करते। कभी कभी औरों के सामने भी छाया से वह ऐसा व्यवहार कर बैठते जो अनुचित कहा जा सकता था।

छाया सुख की छाया में ही पलकर इतनी बड़ी हुई थी। अपमान। अनादर और तिरस्कार के ज्वालामय संसार से वह परिचित न थी। किन्तु अब पद पद पर उसे प्रमोद से प्रेम के कुछ मीठे शब्दों के स्थान पर तिरस्कार से भरा हुआ अपमान ही मिलता था। छाया ने प्रमोद के इस परिवर्तन को ध्यान-पूर्वक देखा था। उनके हृदय को अच्छी तरह टटोला था इस परिवर्तन के बाद भी उसने समझ लिया था कि प्रमोद के हृदय में उसने एक ऐसा स्थान बना लिया है जिस तक किसी और की पहुँच नहीं है; उसे इसी में सन्तोष था। एक कुल वधू इसके अतिरिक्त और चाहती ही क्या है? पत्नी के रूप में पहुँच कर छाया ने अपना अस्तित्व ही मिटा दिया था। प्रमोद के चरणों में उसके लिये थोड़ा-सा स्थान बना रहे, यही उसकी साधना थी; और इस साधना के बल पर ही वह प्रमोद का किया हुआ अपमान और तिरस्कार हँसकर सह सकती थी। उसके ऊपर उस अपमान और तिरस्कार का अधिक प्रभाव न पड़ता। प्रमोद के ज़रा हंसकर बोलने पर वह सब कुछ भूल जाती थी। उसे कुछ याद रहता तो केवल प्रमोद का मधुर व्यवहार।

(३)

प्रमोद के माता-पिता आखिर पुत्र को कितने दिनों तक छोड़ कर रह सकते थे? और अब तो प्रमोद के साथ-साथ

उन्हें छाया पर भी ममता हो गई थी। उनका क्रोध महीने, डेढ़-महीने से अधिक न ठहर सका। वह समाज के पीछे अपने प्यारे पुत्र को नहीं छोड सकते थे। हृदय कहता था, चलो मना लाओ; बेटा आत्म-अभिमानी है तो पिता को नम्र होना चाहिये, किन्तु आत्माभिमान आकर उसी समय गला पकड लेता; पुत्र के दरवाजे स्वयं उसे मनाने के लिये जाना उन्हें अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल जान पडता। फिर पुत्र पुत्र ही तो है, यदि वही पिता के पास तक आजाय तो क्या उसकी शान में फ़र्क आ जायगा ? सारांश यह कि चन्द्रभूषण और सुमित्रा अब वहू बेटे के लिये व्याकुल होते हुए भी उन्हें बुला न सके। एक दिन एक व्यक्ति ने आकर कहा कि प्रमोद बहुत दुबला हो गया है; और कुछ बीमार-सा है। माता का हृदय पानी २ हो गया। उसने उसी समय एक नौकर के हाथ कुछ रुपये भेज कर कहला भेजा कि प्रमोद आकर उनसे मिल जाय। रुपये तो प्रमोद ने ले लिए क्योंकि उन्हें आवश्यकता थी; परन्तु वह घर न जा सके। उन्होंने समझा मां ने पिता की चोरी से घर में बुलवाया है; इसलिए जिस घर में वह पैदा हुए, जहां के जलवायु में पलकर इतने बडे हुए उसी घर में चोर की तरह जाना उन्हें भाया नहीं। वह नहीं गए; जाना अस्वीकार कर दिया। इससे सुमित्रा को बड़ा दुख हुआ। वह उठते-बैठते चन्द्रभूषण से इस बात का आग्रह करने लगी कि वह प्रमोद को स्वयं लेने जायं, उसे मनाने में उनकी प्रतिष्ठा न कम पड़ेगी। दशरथ ने बेटे के लिये प्राण दे दिये थे। यहां तो जरा से सम्मान की ही बात है। पिता का हृदय तो स्वयं ही पुत्र के लिये विकल हो रहा था। वह तो स्वयं चाहते थे। अब सारी जिम्मेदारी सुमित्रा के सर पर छोड़कर वह पुत्र को मनाने चले। रास्ते में सोचा

कहीं छाया पैर छुने आई तो ? लाख वेश्या की लडकी है; पर अब तो वह मेरी पुत्र-वधू है। क्या मैं खाली हाथ ही पैर छुआ लूंगा ? सराफे की ओर घूम गये। वहा से एक जोडी जडाऊ कगन खरीदे, और जेब में रखकर दस कदम भी न चल पाए होंगे कि सामने से प्रमोद आते हुए दिखे। चन्द्रभूषण के पैर रुक गये, प्रमोद भी ठिठके। झुककर उन्होंने पिता के पैर छू लिए। चन्द्रभूषण की आंखों से गंगा-जमना बह निकली प्रमोद के भी आसू न रुक सके। दोनों कुछ देर तक इसी प्रकार आसू बहाते रहे। कोई बात-चीत न हुई। अंत में, गला साफ करते हुए चन्द्र भूषण ने कहा "घर चलो बेटा ! तुम्हारी अम्मा रात दिन तुम्हारे लिए रोया करती हैं"। प्रमाद ने कोई आपत्ति न की। चुपचाप पिता के साथ घर चले गये।

उस दिन वह बहुत रात गए घर लौटे। उनकी बाट जोहते-जोहते छाया भूखी प्यासी सो गई थी। जब प्रमोद अपने कमरे में पहुचे तब १२ बज रहे थे। इस समय छाया को जगाना भी उन्होंने उचित न समझा। विलम्ब से लौटने का उन्हें दु ख था जब कि वह भोजन कर चुके थे और छाया उनकी प्रतीक्षा में भूखी ही सो गई थी। उन्हें छाया के ऊपर दया आई उसके सर पर हाथ फेरते-फेरते वह नींद की प्रतीक्षा करने लगे। छाया गाढी निन्द्रा में सोई थी। उसके चेहरे पर कभी हसी और कभी विषाद की रेखा खिंच जाती थी। प्रमोद यह देख रहे थे। आज उन्हें अपने कटु व्यवहार तीर की तरह चुभने लगे। इसी सोच-विचार में वह सो गए। छाया को भी नींद खुली, घडी की ओर देखा ११ बजे थे। पास ही प्रमोद सुख की नींद ले रहे थे। वह बडी व्याकुल हुई उसने अपने

आपको, न जाने कितना, धिक्कारा। "ऐसी नींद भी भला किस काम की? वे आप और भूखे प्यासे सो रहे और यह निगोड़ी आंखें न खुलीं। यह सदा के लिए तो बन्द न हुई थीं न? कभी न कभी खुलने के ही लिये तो मुंदी थीं? फिर खुलने के समय पर क्यों न खुलीं?" इसी प्रकार अनेक विचार उसके मस्तिष्क में आ-आकर उसे विकल करने लगे। छाया फिर सो न सकी। बाकी रात उसने करवटें बदलते ही बिताई।

सवेरे उठकर उसने प्रमोद का कोट टटोला। उसकी जँजीर ज्यों की त्यों पड़ी थी। दूसरे जेब में २५) रुपये भी थे जँजीर बेची भी नहीं; गिरवी नहीं रखी; फिर यह रुपये कहां से आए? प्रयत्न करने पर भी छाया इस उलझन को न सुलझा सकी। सवेरे जब प्रमोद सोकर उठे तब उनका चेहरा और दिनों की अपेक्षा अधिक प्रसन्न था। उठने पर उन्होंने छाया से पिता की मुलाकात, अपने घर जाने की बात और वहां के सब लोगों के व्यवहार और बर्ताव सभी बतलाए। छाया सुन कर प्रसन्न हुई; किन्तु उस घर में छाया भी प्रवेश कर सकेगी या नहीं? न तो इसके विषय में प्रमोद ने ही कुछ कहा और न छाया को ही पूछने का साहस हुआ।

अब प्रमोद की दिनचर्या बदल गई थी। वह सवेरे से उठते ही अपनी मा के पास चले जाते। वहीं हाथ मुंह धोते, वहीं दूध पीते; फिर अखबार पढते पढ़ाते मित्रों से मिलते जुलते। वह करीब ११-१२ बजे घर लौटते। इस समय उन्हें घर आना ही पडता; क्योंकि छाया उन्हें भोजन कराये बिना खाना न खाती थी। छाया को अब प्रमोद के सहवास का अभाव बहुत खटकता था। किन्तु वह प्रमोद से कुछ कह न सकती थी। वह कुछ ऐसा अनुभव करती थी कि जैसे

प्रमोद के चरणों पर अपना सर्वस्व निछावर करके भी वह प्रमोद को उस अंश तक नहीं पा सकी है जितना एक सहधर्मिणी का अधिकार होता है।

[४]

इसी प्रकार छै महीने और बीत गए। आज वही तिथि थी जिस दिन छाया और प्रमोद विवाह के पवित्र बन्धन में बंधकर एक हुए थे। वह आज बड़ी प्रसन्न थी। सवेरे उठते ही उसने स्नान किया। एक गुलाबी रंग की रेशमी साड़ी पहनी। जो कुछ आभूषण थे वह सब पहन कर वह प्रमोद के उठने की प्रतीक्षा करने लगी। प्रमोद उठे और उठकर प्रतिदिन के नियम के अनुसार पिता के घर जाने लगे। छाया ने पहले तो उन्हें रोकना चाहा किन्तु फिर कुछ सोच कर बोली—"आज जरा जल्दी लौटना"।

"क्यों क्या कोई विशेष काम है?" प्रमोद ने पूछा—

"आज अपने विवाह की वर्षगांठ है"।

कुछ प्रसन्नता और कुछ संकोच के साथ छाया ने उत्तर दिया।

"ऊँह, होगी" !—

उपेक्षा से कहते हुए प्रमोद ने साइकिल उठाई और वे चल दिए।

छाया की आँखें डबडबा आईं। वह कातर दृष्टि से प्रमोद की ओर जब तक वह आंखों से ओझल न हो गये, देखती रही; फिर भीतर आकर अन्यमनस्क भाव से घर के काम-काज में लग गई। भोजन में आज उसने कई चीजें, जो प्रमोद को बहुत पसन्द थीं, बनाईं; किन्तु इधर भोजन का समय निकल जाने पर भी जब प्रमोद घर न लौटे तो वह चिन्तित

F. 10

सी हुई। उससे रहा न गया, उठकर वह प्रमोद के घर की तरफ चली। जहां न जाना चाहती थी वहीं गई, जो कुछ न करना चाहती थी वही किया। घर के सामने पहुँच कर उसने देखा कि चन्द्रभूषण तख्त पर बैठे हैं। छाया को देखते ही वह कुछ स्तम्भित से हुए, किन्तु तुरंत ही आदर का भाव प्रदर्शित करते हुए बोल उठे—

"आओ बेटी! कैसे आई हो आओ बैठो।"

छाया को ससुर से इस सद्व्यवहार की आशा न थी। वह उनके इस व्यवहार पर बड़ी प्रसन्न हुई। किन्तु उसकी समझ में न आता था कि वह प्रमोद के विषय में कैसे पूछे। इसी पशोपेश में वह कुछ देर तक चुपचाप खड़ी रही। अंत में अपने सारे साहस को समेट कर उसने पूछा—

"वह कहाँ हैं"?

'किसे, प्रमोद को पूछती हो? वह तो इधर कल शाम से ही नहीं आया, पर हां, वह प्राय मिस्टर अग्रवाल के यहां बैठा करता है। तुम ठहरो, मैं उसे बुलावाए देता हूँ"।

चन्द्रभूषण ने उत्तर दिया।

उधर प्रमोद की मां दरवाजे की आड़ से खड़ी खड़ी छाया को निहार रही थी और मन ही मन सोच रही थी "कैसी चांद-सी बहू है। चाल ढाल से भी कुलीन घर की वहू बेटियों से कुछ अधिक ही जंचेगी, कम नहीं। बात-चीत का ढंग कितना अच्छा है। स्वर कितना कोमल और मधुर है। चूल्हे में जाय वह समाज जिसके कारण मैं इस हीरे के टुकड़े को अपने घर में अपनी आँखों के सामने नहीं रख सकती"। इसी समय छाया फिर बोली

"आप उन्हें न बुलवा कर मुझे ही न वहां पहुँचवादें?